युग-पाठ्य-ग्रन्थावली नं० ६

साहित्य-शिक्षा



[उच्च श्रेणीके विद्यार्थियों, उदीयमान कलाकारों और आलोचकोंके लिए, साहित्य और उसके अङ्गोंको स्पष्ट करनेवाले निबन्धोंका क्रमबद्ध संग्रह]

सम्पादक

पदुमलाल बख्शी, बी० ए०
हेमचन्द्र मोदी

प्रकाशक

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, बम्बई नं० ४.

चौथी बार
जून, १९४३

मूल्य डेढ़ रुपया

मुद्रक—
श्री अपूर्वकृष्ण बसु,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
बनारस-ब्रांच ।

प्रस्ताव

जैसा कि मुखपृष्ठपर लिखा है, यह संग्रह उच्च श्रेणीके विद्यार्थियों तथा उदीयमान कलाकारों और आलोचकोंके लिए प्रस्तुत किया गया है। यह ठीक है कि प्रतिभाशाली कलाकार बनाये नहीं जाते, वे पैदा होते हैं। फिर भी, उनकी प्रतिभाको सुसंस्कृत और परिष्कृत करनेके लिए शिक्षाकी आवश्यकता होती ही है। सँवारे-सुधारे बगैर बहुमूल्य हीरे भी आभूषण नहीं बनते।

इस संग्रहमें ऐसे ही व्यक्तियोंके निबंध संकलित किये गये हैं जिनके पीछे दीर्घ तपस्या और साधना है, जिनके पास आत्म-साक्षात्कार किये हुए सत्य हैं, जिन्होंने प्राच्य और प्रतीच्य, नवीन और प्राचीन,—सभी तरहके साहित्यिक विचारोंको पचाकर अपनी साहित्यिक धारणायें बनाई हैं। ये विचार हमारी वर्तमान राष्ट्रीय, सामाजिक और सार्वदेशीय आवश्यकताओंके अनुकूल हैं, सर्वथा मौलिक हैं और विदेशी साहित्य-शास्त्रियोंके कच्चे-पक्के विचारोंके अनुवाद नहीं हैं।

जहाँ तक हम जानते हैं, अभीतक हिन्दीमे इस ढँगकी कोई पुस्तक नहीं है। जो पुस्तकें हैं वे इतिहास और भाषा-विज्ञानके दृष्टि-कोणसे लिखी या संग्रह की गई हैं। उनसे साहित्यको खण्ड या अखण्डरूपमें समझनेमे बहुत कम सहायता मिलती है, उनके लेखक अधिकसे अधिक 'इन्फर्मेशन' देनेमे ही व्यस्त रहते हैं, उनमें अन्तर्दृष्टि नहीं मिलती।

लेखोंका यह संग्रह एक विशेष क्रमसे किया गया है। पहले अखण्डरूपमें समग्र साहित्यपर दृष्टि डालनेवाले, फिर साहित्यके उपन्यास, कहानी, नाटक आदि जुदे

जुड़े अङ्गोंपर विशेष विचार करनेवाले और अंतमें आलोचनात्मक निबन्ध दिये गये हैं। क्रम-निर्णयमें मनुष्यकी स्वाभाविक जिज्ञासा-वृत्तिके विकासका भी विचार रक्खा गया है; जैसे, पहले 'साहित्य क्या है?' फिर 'साहित्यका उद्देश्य' आदि लेख हैं।

पुस्तकमें विराम-चिह्नों आदिके सम्बन्धमें एक सुनिश्चित पद्धतिका अवलम्बन किया गया है।

आशा है, यह संग्रह अपनी विशेषताओंके कारण उच्च श्रेणीके पाठ्य-ग्रन्थोंमे स्थान पानेके योग्य समझा जायगा।

—संपादक

कृतज्ञता-प्रकाश

भाई जैनेन्द्रकुमारजी तथा श्रीपतिरायजीके हम विशेषरूपसे कृतज्ञ हैं जिनकी कृपाके बिना यह संग्रह निकालना हमारे लिए असम्भव होता। श्रीपतिराय-जीने तो अपने स्वर्गीय पिता प्रेमचन्दजीके चार निबंधोंको छापनेकी अनुमति दी और जैनेन्द्रजीने अपने चार निबंधोमेंसे कई तो खास तौरसे इसी संग्रहके लिए लिखकर दिये। श्रीहृषीकेश शर्माके भी हम कृतज्ञ हैं कि उन्होंने पूज्य काकासाहब कालेलकरके 'कला और उसका प्रयोजन' और 'रसोंका संस्कार' शीर्षक लेखोंको संकलित करनेकी अनुमति दिलाई और अपने अनुवादका उपयोग करने दिया। शान्ति-निकेतनके हिन्दी-अध्यापक साहित्याचार्य पं० हजारीप्रसादजी द्विवेदीके भी हम कृतज्ञ हैं जिनके 'वर्तमान हिन्दी कविता' लेखके बिना इस पुस्तकका आलोचनाका खण्ड अधूरा ही रहता। सन्त कवियोंके सम्बन्धमे विश्व-कवि स्व० रवीन्द्रनाथने 'हिन्दीके मर्मी कवि' शीर्षक लेखमे जो विचार प्रकाशित किये है उनके लिए तो सभी हिन्दी-भाषा-भाषि-योंको उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

—प्रकाशक

लेख-सूची

अखण्ड-विचार

खण्ड-विचार

आलोचना

साहित्य क्या है ?

साहित्यकी सृष्टि और साहित्यकी आधुनिक प्रगतिपर आलोचनात्मक विचार आरम्भ करें, इससे पहले अच्छा होगा कि उस बारेको अपनी जानकारीको हम स्पष्ट कर लें।

'साहित्य क्या है ?' यह प्रश्न उठाकर हम आशा न करें कि उत्तरमें वह परिभाषा पा सकेंगे जो प्रश्नके चारों खूँट घेर ले। परिभाषाका यह काम नहीं है। परिभाषा सहायक होती है, वह प्रश्नवाचक चिह्नको सर्वथा मिटा नहीं देती। परिभाषाद्वारा प्रश्नवाचक चिह्नको मिटा देनेका यत्न हमें नहीं करना चाहिए। यह समझ लेना चाहिए कि हमारे सब प्रकारके ज्ञानके आगे, और साथ, सदा प्रश्नवाचक चिह्न चलता है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस चिह्नको ठेलकर आगेसे आगे बढ़ाते रहें। पर, यह भी हम करें कि उसे अपनी आँखोकी ओट कभी न होने दें। जब ऐसा होता है तभी आदमीमें कट्टर अन्धता (= dogma) आती है और उसका विकास रुक जाता है।

इस तरह, एक परिभाषा बनाएँ और उससे काम निकालकर सदा दूसरी बनानेको तैयार रहे। यह प्रगतिशील जीवनका लक्षण है और प्रगतिशील, अनुभूतिशील जीवनका लिपिबद्ध व्यक्तीकरण साहित्य है। इसीको यों कहें कि मनुष्यका और मनुष्य-जातिका भाषाबद्ध या अक्षर-बद्ध ज्ञान साहित्य है।

प्राणीमें नव-बोधका उदय हुआ तभी उसमें यह अनुभूति भी उत्पन्न हुई कि 'यह मैं हूँ' और 'यह शेष सब दुनिया है।' यह दुनिया बहुत बड़ी है,—इसका आर-पार नहीं है, और मैं अकेला हूँ। यह अनन्त है, मैं सीमित हूँ,—

क्षुद्र हूँ। सूरज धूप फेंकता है जो मुझे जलाती है, हवा मुझे काटती है, पानी मुझे बहा ले जायगा और डुबा देगा, ये जानवर चारों ओर खाऊँ खाऊँ कर रहे हैं, धरती कैसी कँटीली और कठोर है,—पर, मैं भी हूँ, और जीना चाहता हूँ।

बोधोदयके साथ ही प्राणीने शेष विश्वके प्रति द्वन्द्व, द्वित्व और विग्रहकी वृत्ति अपनेमें अनुभव की,—इससे टक्कर लेकर मै जीऊँगा, इसको मारकर खा लूँगा, यह अन्न है और मेरा भोज्य है; यह और भी जो कुछ है, मेरे जीवनको पुष्ट करेगा।

बोधके साथ एक वृत्ति भी मनुष्यमें जागी। वह थी 'अहंकार'। किन्तु 'अहंकार' अपनेमें ही टिक नहीं सकता। अहंकार भी एक सम्बन्ध है जो क्षुद्रने विराटके प्रति स्थापित किया। विराटके अवबोधसे क्षुद्र पिस न जाय, इससे क्षुद्रने कहा, 'ओह, मै 'मैं' हूँ, और यह सब मेरे लिए है।'

इसी ढंगसे क्षुद्रने अपना जीवन सम्भव बनाया।

किन्तु जीवनकी इस सम्भावनामे ही विराट् और क्षुद्र, अनन्त और समीपका अभेद सम्पन्न होता दीखा। वह अभेद यह है :—जो कुछ है वह क्षुद्र नहीं है पर विराट्का ही अंश है, उसका बालक है, अतः स्वयं विराट् है।

धूप चमकी, तो वृक्षने मनुष्यसे कहा, 'मेरी छायामें आ जाओ', बादलोंसे पानी बरसा तो पर्वतने कन्दरामें सूखा स्थल प्रस्तुत किया और मानो कहा, 'डरो मत, यह मेरी गोद तो है।' प्यास लगी तो झरनेके जलने अपनेको पेश किया। मनुष्यका चित्त खिन्न हुआ और सामने अपनी टहनी परसे खिले गुलाबने कहा, 'भाई, मुझे देखो, दुनिया खिलनेके लिए है।' साँझकी बेलामें मनुष्यको कुछ भीनी-सी याद आई, और आमके पेड़परसे कोयल बोल उठी, 'कू-ऊ, कू-ऊ'। मिट्टीने कहा, 'मुझे खोदकर, ठोक-पीटकर, घर बनाओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी।' धूपने कहा, 'सर्दी लगेगी तो सेवाके लिए मैं हूँ।' पानी खिलखिलाता बोला, 'घबड़ाओ मत, मुझमें नहाओगे तो हरे हो जाओगे।'

मनुष्य-प्राणीने देखा :—दुनिया है पर वह सब उसके साथ है।

फिर भी, धूपको वह समझ न सका। वर्षाके जलको, मिट्टीको, फलको,—किसीको भी वह पूरी तरह समझ न सका। क्या वे सब आत्म-समर्पणके लिए

तैयार नहो हैं ? पर उस क्षुद्रने अहंकारके साथ कहा, 'ठहरो, मैं तुम सबको देख लूँगा। मै 'मै' हूँ, और मैं जीऊँगा।'

इस प्रकार अहंकारकी टेक बनाकर, अपनेको क्षुद्र और सबसे अलग करके वह जीने लगा। अर्थात्, सब प्रकारकी समस्याएँ खड़ी करके उनके बीचमें उलझा हुआ वह जीने लगा। विश्वके साथ विभेद-वृत्ति ही, उसके जीनेकी शर्त्त बनकर, उसके भीतर अपनेको चरितार्थ करने लगी।

पर, इस जीवनमें एक अतृप्ति बनी ही रही जो विश्वके साथ मानों अभेदकी अनुभूति पानेको भूखी थी। अहंकारसे घिरकर वह अपने क्षुद्रत्वके अवबोधसे त्रस्त हुआ,—त्यों ही विराटसे एक होकर अपने भीतर भी विराटताकी अनुभूति जगानेकी व्यग्रता उसमें उत्पन्न हुई। इस व्यग्रताको वह भली-भाँतिसे शान्त करने लगा। यहींसे धर्म, कला, साहित्य, विज्ञान,—सब उत्पन्न हुए।

यह अभेद-अनुभूति उसके लिए जब इष्ट और सत्य हुई ही थी तभी विभेद आया। एक आदर्श था तो दूसरा व्यवहार। एक भविष्य था तो दूसरा वर्त्तमान।—इन्हीं दोनोंके संघर्ष और समन्वयमेंसे मनुष्य-प्राणीके जीवनका इतिहास चला और विकास प्रगटा।

मनुष्यका मनुष्यके साथ, समाजके साथ, राष्ट्रके और विश्वके साथ, (और इस तरह स्वयं अपने साथ) जो एक सुन्दर सामंजस्य,—एकस्वरता, (=harmony) स्थापित करनेकी चेष्टा चिरकालसे चली आ रही है, वही मनुष्य-जातिकी समस्त संग्रहीत निधिकी मूल है। अर्थात्, वही मनुष्यके लिए जो कुछ उपयोगी, मूल्यवान्, सारभूत आज है, वह ज्ञात और अज्ञात रूपमें उसी एक सत्य-चेष्टाका प्रतिफल है। इस प्रक्रियामें मनुष्य जातिने नाना भाँतिकी अनुभूतियोंका भोग किया। सफलताकी, विफलताकी, क्रियाकी, प्रतिक्रिया की,—हर्ष, क्षोभ, विस्मय, भीति, आह्लाद, घृणा और प्रेम—सब भाँतिकी अनुभूतियाँ जातिके शरीरने और इतिहासने भोगी, और वे जातिके जीवन और भविष्यमें मिल गईं। भाँति-भाँतिसे मनुष्यने उन्हे अपनाया और व्यक्त किया। मंदिर बने, तीर्थ बने, घाट बने,—शास्त्र, पुराण, स्तोत्र-ग्रन्थ बने—शिलालेख लिखे गये, स्तम्भ खड़े हुए, मूर्त्तियाँ बनीं और स्तूप निर्मित हुए। मनुष्यने अपने हृदयके भीतर विश्वको यथासाध्य खींचकर जो जो अनुभूतियाँ पाईं—मिट्टी,

पत्थर, धातु अथवा ध्वनि एवं भाषा आदिको उपादान बनाकर, उन्हे ही रख जानेकी उसने चेष्टा की। परिणाममें, हमारे पास ग्रन्थोंका अटूट, अतोल संग्रह है, और जाने क्या नहीं है।

मानव-जातिकी इस अनन्त निधिमें जितना कुछ अनुभूति-भाण्डार लिपिबद्ध है, वही साहित्य है। और भी, अक्षर-बद्ध रूपमें जो अनुभूति-संचय विश्वको प्राप्त होता रहेगा, वह होगा साहित्य।

साहित्यका उद्देश्य

['प्रगतिशील लेखक संघ' के लखनौ अधिवेशनमें सभापतिके आसनसे दिया हुआ स्वर्गीय श्रीप्रेमचंदका एक भाषण ।]

सज्जनो,

यह सम्मेलन हमारे साहित्यके इतिहासमें एक स्मरणीय घटना है। हमारे सम्मेलनो और अंजुमनोंमें अब तक आम तौरपर भाषा और उसके प्रचारपर ही बहस की जाती रही है। यहाँ तक कि उर्दू और हिन्दीका जो आरम्भिक साहित्य मौजूद है, उसका उद्देश्य, विचारों और भावोंपर असर डालना नही, किन्तु केवल भाषाका निर्माण करना था। वह भी एक बड़े महत्त्वका कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न प्राप्त कर ले, उसमें विचारों और भावोंको व्यक्त करनेकी शक्ति ही कहाँसे आयेगी? हमारी भाषाके 'पायनियरो' ने,—रास्ता साफ करनवालोने, हिन्दुस्तानी भाषाका निर्माण करके जातिपर जो एहसान किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ न हों तो यह हमारी कृतघ्नता होगी।

परन्तु, भाषा साधन है, साध्य नही। अब हमारी भाषाने वह रूप प्राप्त कर लिया है कि हम भाषासे आगे बढ़कर भावकी ओर ध्यान दें और इस पर विचार करें कि जिस उद्देश्य से यह निर्माण-कार्य आरम्भ किया गया था, वह क्योकर पूरा हो। वही भाषा, जिसमें आरम्भमें 'बागोबहार' और 'बैताल-पचीसी' की रचना ही सबसे बड़ी साहित्य-सेवा थी, अब इस योग्य हो गई है कि उसमें शास्त्र और विज्ञानके प्रश्नों की भी विवेचना की जा सके और यह सम्मेलन इस सचाईकी स्पष्ट स्वीकृति है।

भाषाकी दाग़-बेल डाली वह लिखनेकी भाषा थी और वही साहित्य है। बोलचालसे हम अपने क़रीबके लोगोंपर अपने विचार प्रकट करते हैं,—अपने हर्ष-शोकके भावोंका चित्र खींचते है। साहित्यकार वही काम लेखनी-द्वारा करता है। हाँ, उसके श्रोताओंकी परिधि बहुत विस्तृत होती है, और, अगर उसके बयानमें सचाई है तो शताब्दियों और युगोंतक उसकी रचनाएँ हृदयोंको प्रभावित करती रहती हैं।

परंतु, मेरा अभिप्राय यह नही है कि जो कुछ लिख दिया जाय, वह सबका सब साहित्य है। साहित्य उसी रचनाको कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो, और जिसमे दिल और दिमाग़पर असर डालनेका गुण हो। और साहित्यमें यह गुण पूर्णरूपसे उसी अवस्थामें उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवनकी सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों। तिलिस्माती कहानियों, भूत-प्रेतकी कथाओ और प्रेम-वियोगके आख्यानोंसे किसी ज़मानेमें हम भले ही प्रभावित हुए हो, पर, अब उनमें हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव-प्रकृतिका मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारोंकी प्रेम-गाथाओं और तिलिस्माती कहानियोमें भी जीवनकी सचाइयाँ वर्णन कर सकता है, और सौन्दर्यकी सृष्टि कर सकता है; परन्तु, इससे भी इस सत्यकी पुष्टि ही होती है कि साहित्यमें प्रभाव उत्पन्न करनेके लिए यह आवश्यक है कि वह जीवनकी सचाइयोंका दर्पण हो। फिर आप उसे जिस चौखटेमें चाहें लगा सकते हैं,—चिड़ेकी कहानी और गुल और बुलबुलकी दास्तान भी उसके लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकती है।

साहित्यकी बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं; पर, मेरे विचारसे उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवनकी आलोचना' है। चाहे वह निबन्धके रूपमें हो, चाहे कहानियोंके या काव्यके, उसे हमारे जीवनकी आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युगको अभी पार किया है, उसे जीवनसे कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पनाकी एक सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कही फ़िसानए अजायबकी दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख़यालकी

और कहीं चन्द्रकान्ता-सन्ततिकी। इन आख्यानोंका उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत-रस प्रेमकी तृप्ति। साहित्यका जीवनसे कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन; दोनो परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियोंपर भी व्यक्तिवादका रंग चढ़ा हुआ था। प्रेमका आदर्श वासनाओंको तृप्त करना था, और सौन्दर्यका आँखोको। इन्हीं शृंगारिक भावोंको प्रकट करनेमे कवि-मण्डली अपनी प्रतिभा और कल्पनाके चमत्कार दिखाया करती थी। पद्यमें कोई नई शब्द-योजना, नई उपमा, उत्प्रेक्षा या नई कल्पनाका होना दाद पानेके लिए काफी था,—चाहे वह वस्तु-स्थितिसे कितनी ही दूर क्यो न हो। आशियाना (=घोंसला) और क़फ़स (=पींजरा), बर्क़ (=बिजली) और खिरमनकी कल्पनाएँ, विरह-दशाओंके वर्णनमें निराशा और वेदनाकी विविध अवस्थाएँ, इस खूबीसे दिखाई जाती थीं कि सुननेवाले दिल थाम लेते थे। और आज भी इस ढंगकी कविता कितनी लोक-प्रिय है, इसे हम और आप खूब जानते हैं।

निस्सन्देह, काव्य और साहित्यका उद्देश्य हमारी अनुभूतियोंकी तीव्रताको बढ़ाना है; पर, मनुष्यका जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेमका जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय शृंगारिक मनोभाव और उनसे उत्पन्न होनेवाली विरह-व्यथा निराशा आदि तक ही सीमित हो,—जिसमें दुनिया और दुनियाकी कठिनाइयोंसे दूर भागना ही जीवनकी सार्थकता समझी गई हो, हमारी विचार और भाव-सम्बन्धी आवश्यकताओंको पूरा कर सकता है? शृंगारिक मनोभाव मानव-जीवनका एक अंग-मात्र हैं, और जिस साहित्यका अधिकाश इसीसे सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और उस युगके लिए गर्व करनेकी वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचिका ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिन्दी और क्या उर्दू,—कवितामें दोनोंकी एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्यके विषयमें जो लोक-रुचि थी, उसके प्रभावसे अलिप्त रहना सहज न था। सराहना और क़द्रदानीकी हवस तो हरएकको होती है। कवियोंके लिए उनकी रचना ही जीविकाका साधन थी और कविताकी क़द्रदानी रईसो और अमीरोके सिवा और कौन कर सकता है? हमारे कवियोंको साधारण जीवनका सामना करने और उसकी सचाइयोसे प्रभावित होनेके या तो अवसर

ही न थे, या हर छोटे-बड़ेपर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छाई हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।

हम इसका दोष उस समयके साहित्यकारोंपर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने कालका प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगोंके हृदयको स्पन्दित करते हैं, वही साहित्यपर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतनके कालमें लोग या तो आशिक़ी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्यमें मन रमाते हैं। जब साहित्यपर संसारकी नश्वरताका रंग चढ़ा हो, और उसका एक एक शब्द नैराश्यमें डूबा, समयकी प्रतिकूलताके रोनेसे भरा और शृंगारिक भावोंका प्रतिबिम्ब बना हो, तो समझ लीजिए कि जाति जड़ता और ह्रासके पंजेमें फँस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्षका बल बाकी नही रहा। उसने ऊँचे लक्ष्योंकी ओरसे आँखें बन्द कर ली हैं और उसमेंसे दुनियाको देखने-समझनेकी शक्ति लुप्त हो गई है।

परन्तु, हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेजीसे बदल रही है। अब साहित्य केवल मन-बहलावकी चीज़ नहीं है, मनोरंजनके सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिकाके संयोग-वियोगकी कहानी नहीं सुनाता, किन्तु, जीवनकी समस्याओंपर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणाके लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढ़ता और न अनुप्रासका अन्वेषण करता है, किन्तु उसे उन प्रश्नोंसे दिल-चस्पी है जिससे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टताकी वर्तमान कसौटी अनुभूतिकी वह तीव्रता है जिससे वह हमारे भावो और विचारों मे गति पैदा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्रका लक्ष्य एक ही है,—केवल उपदेशकी विधिमें अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशोंके द्वारा बुद्धि और मनपर प्रभाव डालनेका यत्न करता है, साहित्यने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावोंका क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवनमें जो कुछ देखते है, या जो कुछ हमपर गुजरती है, वही अनुभव और वही चोटें कल्पनामें पहुँचकर साहित्य-सृजनकी प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार मे अनुभूतिकी जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दरजेकी होती है।

जिस साहित्यसे हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत् हो,—जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयोंपर विजय पानेकी सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहानेका अधिकारी नहीं।

पुराने ज़मानेमें समाजकी लगाम मज़हबके हाथमें थी। मनुष्यकी आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यताका आधार धार्मिक आदेश था, और वह भय या प्रलोभनसे काम लेता था,—पुण्य-पापके मसले उसके साधन थे।

अब, साहित्यने यह काम अपने जिम्मे ले लिया और उसका साधन सौन्दर्य-प्रेम है। वह मनुष्यमें इसी सौन्दर्य-प्रेमको जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौन्दर्यकी अनुभूति न हो। साहित्यकारमें यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत् और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृतिनिरीक्षण और अपनी अनुभूतिकी तीक्ष्णताकी बदौलत उसके सौन्दर्य-बोधमें इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यतासे रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उसपर वह शब्दों और भावोंकी सारी शक्तिसे वार करता है। यों कहिए कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रताका बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है,—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालतके सामने वह अपना इस्तग़ासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्तिको जाग्रत् करके अपना यत्न सफल समझता है।

पर, साधारण वकीलोंकी तरह साहित्यकार अपने मवक्किलकी ओरसे उचित-अनुचित,—सब तरहके दावे नहीं पेश करता, अतिरंजनासे काम नहीं लेता, अपनी ओरसे बातें गढ़ता नहीं। वह जानता है कि इन युक्तियोंसे वह समाजकी अदालतपर असर नहीं डाल सकता। उस अदालतका हृदय-परिवर्तन तभी संभव है जब आप सत्यसे तनिक भी विमुख न हों, नहीं तो अदालतकी धारणा आपकी ओरसे ख़राब हो जायगी और वह आपके ख़िलाफ़ फ़ैसला सुना देगी। वह कहानी लिखता है पर वास्तविकताका ध्यान रखते हुए, मूर्ति बनाता है पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भाव-व्यंजकता भी,—वह मानवप्रकृतिका सूक्ष्म

दृष्टिसे अवलोकन करता है, मनोविज्ञानका अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालतमे और हर मौक़ेपर इस तरह आचरण करे जैसे रक्त-मासका बना मनुष्य करता है। अपनी सहज सहानुभूति और सौन्दर्य-प्रेमके कारण वह जीवनके उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुँचता है जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यताके कारण पहुँचनेमे असमर्थ होता है।

आधुनिक साहित्यमें वस्तु-स्थिति-चित्रणकी प्रवृत्ति इतनी बढ़ रही है कि आजकी कहानी यथासभव प्रत्यक्ष अनुभवोंकी सीमाके बाहर नहीं जाती। हमें केवल इतना सोचनेसे ही संतोष नही होता कि मनोविज्ञानकी दृष्टिसे ये सभी पात्र मनुष्योंसे मिलते-जुलते हैं, बल्कि हम यह इत्मीनान चाहते हैं कि वे सचमुच मनुष्य हैं और लेखकने यथासंभव उनका जीवन-चरित ही लिखा है। क्योंकि कल्पनाके गढे हुए आदमियोमें हमारा विश्वास नही है, उनके कार्यो और विचारोसे हम प्रभावित नही होते। हमे इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखकने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवोके आधारपर की गई है और अपने पात्रों की ज़बानसे वह खुद बोल रहा है।

इसलिए, साहित्यको कुछ समालोचकोने लेखकका मनोवैज्ञानिक जीवन-चरित कहा है।

एक ही घटना या स्थितिसे सभी मनुष्य समान रूपमे प्रभावित नहीं होते। हर आदमीकी मनोवृत्ति और दृष्टिकोण अलग हैं। रचना-कौशल इसीमें है कि लेखक जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोणसे किसी बातको देखे, पाठक भी उसमें उससे सहमत हो जाय। यही उसकी सफलता है। इसके साथ ही हम साहित्यकारसे यह भी आशा रखते हैं कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारोंकी विस्तृतिसे हमे जाग्रत् करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधिको विस्तृत करे,—उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचनासे हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।

सुधारकी जिस अवस्थामें वह हो उससे अच्छी अवस्था आनेकी प्रेरणा हर आदमीमें मौजूद रहती है। हममें जो कमज़ोरियाँ हैं, वह मर्ज़की तरह हमसे चिमटी हुई हैं। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रोग उसका उलटा, उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात

है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावटसे उसी तरह संतुष्ट नहीं रहते जैसे कोई रोगी अपने रोगसे संतुष्ट नही रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सककी तलाशमें रहता है, उसी तरह हम भी इस फ़िक्रमें रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमज़ोरियोको परे फेककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसीलिए, हम साधु-फ़क़ीरोकी खोजमें रहते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, बडे-बूढ़ोके पास बैठते हैं, विद्वानोंके व्याख्यान सुनते हैं और साहित्यका अध्ययन करते हैं।

और हमारी सारी कमज़ोरियोकी जिम्मेदारी हमारी कुरुचि और प्रेम-भावसे वंचित होनेपर है। जहाँ सच्चा सौन्दर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेमकी विस्तृति है, वहाँ कमज़ोरियाँ कहाँ रह सकती हैं? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमज़ोरियाँ इसी भोजनके न मिलने अथवा दूषित भोजनके मिलनेसे पैदा होती हैं। कलाकार हममें सौन्दर्यकी अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेमकी उष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत, इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर, जब तक कलाकार खुद सौन्दर्य-प्रेमसे छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योतिसे प्रकाशित न हो, वह हमे यह प्रकाश क्योकर दे सकता है?

प्रश्न यह है कि सौन्दर्य है क्या वस्तु? प्रकटतः यह प्रश्न निरर्थक-सा मालूम होता है क्योंकि, सौन्दर्यके विषयमें हमारे मनमें कोई शंका,—संदेह, नही। हमने सूरजका उगना और डूबना देखा है, उषा और संध्याकी लालिमा देखी है; सुंदर सुगंधि-भरे फूल देखे हैं, मीठी बोलियाँ बोलनेवाली चिड़ियाँ देखी हैं, कल-कल-निनादिनी नदियाँ देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं—यही सौन्दर्य है।

इन दृश्योंको देखकर हमारा अन्तःकरण क्यों खिल उठता है? इसलिए, कि इनमे रंग या ध्वनिका सामंजस्य है। बाजोंका स्वर-साम्य अथवा मेल ही संगीतकी मोहकताका कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वोके समानुपातिक संयोगसे हुई है; इसलिए, हमारी आत्मा सदा उसी साम्यकी, उसी सामंजस्यकी, खोजमें रहती है। साहित्य कलाकारके आध्यात्मिक सामंजस्यका व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्यकी सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममे वफादारी, सचाई, सहानुभूति, न्याय-प्रियता और समताके भावोकी पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव

हैं वही दृढ़ता है और जीवन है; जहाँ इनका अभाव है वही फूट, विरोध, स्वार्थपरता है,—द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। यह बिलगाव-विरोध, प्रकृति-विरुद्ध जीवनके लक्षण हैं, जैसे रोग प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहारका चिह्न है। जहाँ प्रकृतिसे अनुकूलता और साम्य है वहाँ संकीर्णता और स्वार्थका अस्तित्व कैसे संभव होगा? जब हमारी आत्मा प्रकृतिके मुक्त वायुमण्डलमें पालित-पोषित होती है, तो नीचता-दुष्टताके कीड़े अपने आप हवा और रोशनीसे मर जाते हैं। प्रकृतिसे अलग होकर अपनेको सीमित कर लेनेसे ही यह सारी मानसिक और भाव-गत बीमारियाँ पैदा होती हैं। साहित्य हमारे जीवनको स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है; दूसरे शब्दोंमे, उसीकी बदौलत मनका संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।

'प्रगतिशील लेखक-संघ' यह नाम ही मेरे विचारसे ग़लत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है; अगर यह उसका स्वभाव न होता तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अन्दर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमीको पूरा करनेके लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पनामें वह व्यक्ति और समाजको सुख और स्वच्छन्दताकी जिस अवस्थामे देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नही देती। इसलिए, वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओंसे उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओंका अन्त कर देना चाहता है जिससे दुनिया जीने और मरनेके लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाय। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्कको सक्रिय बनाये रखता है। उसका दर्दसे भरा हृदय इसे सहन नही कर सकता कि एक समुदाय क्यो सामाजिक नियमों और रूढियोंके बंधनमें पड़कर कष्ट भोगता रहे, क्यों न ऐसे सामान इकट्ठा किये जायँ कि वह ग़ुलामी और ग़रीबीसे छुटकारा पा जाय? वह इस वेदनाको जितनी बेचैनीके साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचनामें ज़ोर और सचाई पैदा होती है। अपनी अनुभूतियोंको वह जिस क्रमानुपातमें व्यक्त करता है, वही उसकी कला-कुशलताका रहस्य है। पर शायद इस विशेषतापर ज़ोर देनेकी ज़रूरत इसलिए पड़ी कि प्रगति या उन्नतिसे प्रत्येक लेखक या ग्रंथकार एक ही अर्थ नहीं ग्रहण करता। जिन अवस्थाओंको एक समुदाय उन्नति

समझ सकता है, दूसरा समुदाय असंदिग्ध अवनति मान सकता है, इसलिए, साहित्यकार अपनी कलाको किसी उद्देश्यके अधीन नही करना चाहता। उसके विचारमे कला केवल मनोभावोंके व्यक्तीकरणका नाम है, चाहे उन भावोसे व्यक्ति या समाजपर कैसा ही असर क्यों न पड़े।

उन्नतिसे हमारा तात्पर्य उस स्थितिसे है जिससे हममे दृढ़ता और कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमे अपनी दुःखावस्थाकी अनुभूति हो, हम देखे कि किन अन्तर्बाह्य कारणोसे हम इस निर्जीवता और ह्रासकी अवस्थाको पहुँच गये, और उन्हें दूर करनेकी कोशिश करें।

हमारे लिए कविताके वे भाव निरर्थक हैं जिनसे संसारकी नश्वरताका आधिपत्य हमारे हृदयपर और दृढ़ हो जाय,—जिनसे हमारे हृदयमें नैराश्य छा जाय। वे प्रेम-कहानियाँ, जिनसे हमारे मासिक-पत्रोंके पृष्ठ भरे रहते हैं, हमारे लिए अर्थ-हीन हैं अगर वे हममे हरकत और गरमी नहीं पैदा करतीं। अगर हमने दो नवयुवकोकी प्रेम-कहानी कह डाली, पर उससे हमारे सौन्दर्य-प्रेमपर कोई असर न पड़ा, और पड़ा भी तो केवल इतना कि हम उनकी विरह-व्यथापर रोये, तो इससे हममें कौन-सी मानसिक या रुचि-सम्बन्धी गति पैदा हुई? इन बातोंसे किसी ज़मानेमें हमे भावावेश हो जाता रहा हो, पर आजके लिए वे बेकार हैं। इस भावोत्तेजक कलाका अब ज़माना नही रहा। अब तो हमे उस कलाकी आवश्यकता है जिसमे कर्मका सन्देश हो, अब तो हज़रते इक़बालके साथ हम भी कहते हैं—

> रमजे हयात जोई जुज़दर तपिश नयाबी,
> दरकुलज़ुम आरमीदन नंगस्त आबे जूरा।
> ब आशियाँ न नशीनम जे लज्जते परवाज़,
> गये बशाख़े गुलम गहे बरलबे जूयम।

[अर्थात्, अगर तुझे जीवनके रहस्यकी खोज है तो वह तुझे संघर्षके सिवा और कही नही मिलनेका,—सागरमें जाकर विश्राम करना नदीके लिए लज्जाकी बात है। आनन्द पानेके लिए मै घोंसलेमे कभी बैठता नही,—कभी फूलोकी टहनियोपर तो कभी नदीतटपर होता हूँ।]

अतः अपने पन्थमें अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टि-कोणको प्रधानता देना वह वस्तु है जो हमे जड़ता, पतन और लापरवाहीकी ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति-रूपमें उपयोगी है और न समुदाय-रूपमे।

मुझे यह कहनेमे हिचक नही कि मै और चीज़ोकी तरह कलाको भी उपयोगिताकी तुलापर तौलता हूँ। निस्संदेह कलाका उद्देश्य सौन्दर्य-वृत्तिकी पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्दकी कुंजी है; पर, ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नही जो अपनी उपयोगिताका पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिताकी दृष्टिसे एक ही वस्तुसे हमे सुख भी होता है और दुःख भी। आसमानपर छाई हुई लालिमा निस्संदेह बडी सुंदर दीखती है; परन्तु, आषाढ़में अगर आकाशपर वैसी लालिमा छा जाय, तो वह हमे प्रसन्नता देनेवाली नही हो सकती। उस समय तो हम आसमानपर काली काली घटाएँ देखकर ही आनन्दित होते हैं। फूलोंको देखकर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलोकी आशा होती है, प्रकृतिसे अपसे जीवनका सुर मिलाकर रहनेमे हमे इसलिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृतिका विधान वृद्धि और विकास है और जिन भावों, अनुभूतियो और विचारोंसे हमें आनन्द मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकासके सहायक हैं। कलाकार अपनी कलासे सौन्दर्यकी सृष्टि करके परिस्थितिको विकासके उपयोगी बनाता है।

परन्तु, सौन्दर्य भी और पदार्थोंकी तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नही, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईसके लिए जो वस्तु सुखका साधन है, वही दूसरे के लिए दुःखका कारण हो सकती है। एक रईस अपने सुरभित सुरम्य उद्यानमे बैठकर जब चिडियोका कल-गान सुनता है तो उसे स्वर्गीय सुखकी प्राप्ति होती है; परन्तु, एक दूसरा सज्ञान मनुष्य वैभवकी इस सामग्रीको घृणिततम वस्तु समझता है।

बन्धुत्व और समता, सभ्यता तथा सामाजिक जीवनके आरम्भसे ही, आदर्शवादियोका सुनहला स्वप्न रही है। धर्म-प्रवर्तकोने धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक बन्धनोसे इस स्वप्नको सचाई बनानेका सतत किन्तु,

निष्फल यत्न किया है। महात्मा बुद्ध, हज़रत ईसा, हज़रत मुहम्मद आदि सभी पैग़म्बरों और धर्म-प्रवर्तकोंने नीतिकी नींवपर यह समताकी इमारत खड़ी करनी चाही; पर, किसीको सफलता न मिली, और आज छोटे-बडेका भेद जिस निष्ठुर रूपमे प्रकट हो रहा है, उस रूपमें तो शायद कभी न हुआ था।

'आजमायेको आजमाना मूर्खता है,' इस कहावतके अनुसार यदि हम अब भी धर्म और नीतिका दामन पकड़कर समानताके ऊँचे लक्ष्यपर पहुँचना चाहे, तो विफलता ही मिलेगी। क्या हम इस सपनेको उत्तेजित मस्तिष्ककी सृष्टि समझकर भूल जायँ? तब तो मनुष्यकी उन्नति और पूर्णताके लिए कोई आदर्श ही बाकी न रह जायगा। इससे कहीं अच्छा है कि मनुष्यका अस्तित्व ही मिट जाय। जिस आदर्शको हमने सभ्यताके आरम्भसे पाला है, जिसके लिए मनुष्यने ईश्वर जाने कितनी कुरबानियाँ की हैं, जिसकी परिणतिके लिए धर्मोंका आविर्भाव हुआ, मानव-समाजका इतिहास जिस आदर्शकी प्राप्तिका इतिहास है, उसे सर्वमान्य समझकर,—एक अमिट सचाई समझकर हमें उन्नतिके मैदानमें कदम रखना है। हमें एक ऐसे नये संघटनको सर्वाङ्गपूर्ण बनाना है जहाँ समानता केवल नैतिक बन्धनोंपर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले, हमारे साहित्यको उसी आदर्शको अपने सामने रखना है।

हमें सुन्दरताकी कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिताके ढंगकी थी। हमारा कलाकार अमीरोंका पल्ला पकडे रहना चाहता था, उन्हींकी कद्रदानीपर उसका अस्तित्व अवलंबित था और उन्हींके सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विताकी व्याख्या कलाका उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्तःपुर और बंगलोंकी ओर उठती थी। झोंपड़े और खंडहर उसके ध्यानके अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यताकी परिधिके बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता था तो इनका मज़ाक़ उड़ानेके लिए। ग्रामवासीकी देहाती वेष-भूषा और तौर-तरीक़ेपर हँसनेके लिए, उसका शीन-क़ाफ़ दुरुस्त न होना या मुहाविरोंका ग़लत उपयोग उसके व्यंग्य-विद्रूपकी स्थायी सामग्री था। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षाएँ हैं,—यह कलाकी कल्पनाके बाहरकी बात थी।

कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजाका, शब्द-योजनाका, भाव-निबंधनका। उसके लिए कोई आदर्श नही है, जीवनका कोई ऊँचा उद्देश्य नही है,—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनियासे किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकारके विचारसे जीवनका चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौन्दर्यका परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नतामें भी सौन्दर्यका अस्तित्व संभव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नही करता। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्रीमे है,—उस बच्चोंवाली ग़रीब रूपरहित स्त्रीमे नहीं जो बच्चेको खेतकी मेंडपर सुलाये पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया कि रँगे होठो, कपोलो और भौंहोमें निस्सन्देह सुन्दरताका वास है,—उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होठो और कुम्हलाये हुए गालोमें सौन्दर्यका प्रवेश कहाँ!

पर यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौन्दर्य देखनेवाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रँगे होठो और कपोलोंकी आडमें अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है तो इन मुरझाये हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालोंके आँसुओंमें त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ, उसमे नफ़ासत नही, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।

हमारी कला यौवनके प्रेममे पागल है और यह नहीं जानती कि जवानी छातीपर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिकाकी निष्ठुरताका रोना रोने या उसके रूप-गर्व और चोंचलोंपर सिर धुननेमें नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवादका, हिम्मतका, कठिनाईसे मिलनेकी इच्छाका, आत्म-त्यागका। उसे तो इक़बालके साथ कहना होगा—

अज़ दस्ते जुनूने मन जिब्रील ज़बूँ सैदे,
यजदाँ बकमन्द आवर ऐ हिम्मते मरदाना॥

[अर्थात् मेरे उन्मत्त हाथोंके लिए जिब्रील एक घटिया शिकार है। ऐ हिम्मते मरदाना, क्यो न अपनी कमन्दमे तू खुदाको ही फाँस लाये?]

अथवा

चू मौज साजे बजूदम ज़ सैल बेपरवास्त,
गुमाँ मबर कि दरी बहर साहिले जोयम॥

[अर्थात्, तरंगकी भाँति मेरे जीवनकी तरी भी प्रवाहकी ओरसे बेपरवाह है, यह न सोचो कि इस समुद्रमे मै किनारा ढूँढ़ रहा हूँ।]

और यह अवस्था उस समय पैदा होगी जब हमारा सौन्दर्य व्यापक हो जायगा, जब सारी सृष्टि उसकी परिधिमे आ जायगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उसकी उडानके लिए केवल बाग़की चहारदीवारी न होगी, किन्तु वह वायु-मण्डल होगा जो सारे भू-मण्डलको घेरे हुए है। तब कुरुचि हमारे लिए सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदनेके लिए कमर कसकर तैयार हो जायँगे। हम जब ऐसी व्यवस्थाको सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियोंकी गुलामी करें, तभी हम केवल काग़ज़के पृष्ठोपर सृष्टि करके ही सन्तुष्ट न हो जायँगे, किन्तु उस विधानकी सृष्टि करेंगे जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्म-सम्मान और मनुष्यताका विरोधी न हो।

साहित्यकारका लक्ष्य केवल महफ़िल सजाना और मनोरंजनका सामान जुटाना नहीं है,—उसका दरजा इतना न गिराइए। वह देश-भक्ति और राज-नीतिके पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि, उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।

हमें अक्सर यह शिकायत होती है कि साहित्यकारोंके लिए समाजमे कोई स्थान नही,—अर्थात्, भारतके साहित्यकारोके लिए। सभ्य देशोमे तो साहित्य-कार समाजका सम्मानित सदस्य है और बडे बड़े अमीर और मन्त्रि-मण्डलके सदस्य उससे मिलनेमे अपना गौरव समझते हैं; परन्तु, हिन्दुस्तान तो अभी मध्य-युगकी अवस्थामे पडा हुआ है। यदि साहित्यने अमीरोके याचक बननेको जीवनका सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनो, हलचलो और क्रान्तियोंसे बेखबर हो जो समाजमें हो रही हैं,—अपनी ही दुनिया बनाकर रोता और हँसता हो, तो इस दुनियामें उसके लिए जगह न होनेमे कोई अन्याय नहीं है। जब साहित्यकार बननेके लिए अनुकूल रुचिके सिवा और कोई क़ैद नहीं रही;—जैसे महात्मा बननेके लिए किसी प्रकारकी शिक्षाकी आवश्यकता नही,—आध्या-त्मिक उच्चता ही काफी है, तो महात्मा लोग दरदर फिरने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी लाखो निकल आये।

इसमें शक नहीं कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता; पर यदि हम शिक्षा और जिज्ञासासे प्रकृतिकी इस देनको बढ़ा सकें, तो निश्चय ही हम साहित्यकी अधिक सेवा कर सकेंगे। अरस्तूने और दूसरे विद्वानोंने भी साहित्यकार बननेवालोंके लिए कड़ी शर्तें लगाई हैं और उनकी मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक और भावगत सभ्यता तथा शिक्षाके लिए सिद्धान्त और विधियाँ निश्चित कर दी गई हैं; मगर, आज तो हिन्दीमें साहित्यकारके लिए प्रवृत्तिमात्र अलम् समझी जाती है, और किसी प्रकारकी तैयारीकी उसके लिए आवश्यकता नहीं। वह राजनीति, समाज-शास्त्र या मनोविज्ञानसे सर्वथा अपरिचित हो, फिर भी वह साहित्यकार है।

साहित्यकारके सामने आजकल जो आदर्श रक्खा गया है, उसके अनुसार ये सभी विद्याएँ उसकी विशेष अंग बन गई हैं और साहित्यकी प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि, वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होती जाती है। अब वह व्यक्तिको समाजसे अलग नहीं देखता, किन्तु उसे समाजके एक अङ्ग-रूपमें देखता है। इसलिए नहीं कि वह समाजपर हुकूमत करे, उसे अपने स्वार्थ-साधनका औज़ार बनाये,—मानो उसमें और समाजमें सनातन शत्रुत्व है, बल्कि इसलिए कि समाजके अस्तित्वके साथ उसका अस्तित्व कायम है और समाजसे अलग होकर उसका मूल्य शून्यके बराबर हो जाता है।

हममेंसे जिन्हें सर्वोत्तम शिक्षा और सर्वोत्तम मानसिक शक्तियाँ मिली हैं, उनपर समाजके प्रति उतनी ही ज़िम्मेदारी भी है। हम उस मानसिक पूँजी-पतिको पूजाके योग्य न समझेंगे जो समाजके पैसेसे ऊँचीसे ऊँची शिक्षा प्राप्त कर उसे शुद्ध स्वार्थ-साधनमें लगाता है। समाजसे निजी लाभ उठाना ऐसा काम है जिसे कोई साहित्यकार कभी पसन्द न करेगा। उस मानसिक पूँजीपतिका कर्तव्य है कि वह समाजके लाभको अपने निजके लाभसे अधिक ध्यान देने योग्य समझे,—अपनी विद्या और योग्यतासे समाजको अधिकसे अधिक लाभ पहुँचानेकी कोशिश करे। वह साहित्यके किसी भी विभागमें प्रवेश क्यों न करे, उसे उस विभागसे विशेष और सब विभागोंसे सामान्य परिचय हो।

अगर हम अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यकार-सम्मेलनकी रिपोर्टें पढ़ें, तो हम देखेंगे कि ऐसा कोई शास्त्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्न नहीं है, जिसपर उनमें विचार-विनिमय न होता हो। इसके विरुद्ध, हम अपनी ज्ञान-सीमाको देखते हैं तो हमें अपने अज्ञानपर लज्जा आती है। हमने समझ रक्खा है कि साहित्य-रचनाके लिए आशु-बुद्धि और तेज़ कलम काफी है; पर यही विचार हमारी साहित्यिक अवनतिका कारण है। हमें अपने साहित्यका मान-दण्ड ऊँचा करना होगा जिसमें वह समाजकी अधिक मूल्यवान् सेवा कर सके, जिसमें समाजमें उसे वह पद मिले जिसका वह अधिकारी है, जिसमें वह जीवनके प्रत्येक विभागकी आलोचना-विवेचना कर सके और हम दूसरी भाषाओं तथा साहित्योंका जूठा खाकर ही संतोष न करें; किन्तु, खुद भी उस पूँजीको बढ़ावें।

हमें अपनी रुचि और प्रवृत्तिके अनुकूल विषय चुन लेने चाहिए और विषय-पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिए। हम जिस आर्थिक अवस्थामें ज़िन्दगी बिता रहे है उसमें यह काम कठिन अवश्य है; पर, हमारा आदर्श ऊँचा रहना चाहिए। हम पहाड़की चोटी तक न पहुँच सकेंगे, तो कमर तक तो पहुँच ही जायँगे जो ज़मीनपर पडे रहनेसे कहीं अच्छा है। अगर हमारा अन्तर प्रेमकी ज्योतिसे प्रकाशित हो और सेवाका आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नही जिसपर हम विजय न प्राप्त कर सकें।

जिन्हे धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिरमें उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासकोंकी आवश्यकता है जिन्होंने सेवाको ही अपने जीवनकी सार्थकता मान ली हो, जिनके दिलमें दर्दकी तड़प हो और मुहब्बतका जोश हो। अपनी इज़्ज़त तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिलसे समाजकी सेवा करेंगे तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पाँव चूमेंगी। फिर, मान-प्रतिष्ठाकी चिन्ता हमे क्यों सताये? और उसके न मिलनेसे हम निराश क्यों हों? सेवामें जो आध्यात्मिक आनन्द है वही हमारा पुरस्कार है,—हमें समाजपर अपना बड़प्पन जताने, उसपर रौब जमानेकी हविस क्यों हो? दूसरोंसे ज्यादा आरामके साथ रहनेकी इच्छा भी हमें क्यों सताये? हम अमीरोंकी श्रेणीमें अपनी गिनती क्यो करावें? हम तो समाजके झंडा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं और सादी ज़िन्दगीके साथ ऊँची निगाह हमारे जीवनका लक्ष्य है। जो

आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवनका प्रेमी नहीं हो सकता। उसे अपनी मनस्तुष्टिके लिए दिखावेकी आवश्यकता नही,—उससे तो उसे घृणा होती है। वह तो इक़बालके साथ कहता है—

मर्दुम आजादम आंगूना रायूरम कि मरा,
मीतवां कुश्तब येक जामे जुलाले दीगरां।

[अर्थात्, मै आज़ाद हूँ और इतना हयादार हूँ कि मुझे दूसरोंके निथरे हुए पानीके एक प्यालेसे मारा जा सकता है।]

हमारी परिषद्ने कुछ इसी प्रकारके सिद्धान्तोके साथ कर्म-क्षेत्रमे प्रवेश किया है। साहित्यका शराब-कबाब और राग-रंगका मुखापेक्षी बना रहना उसे पसद नही। वह उसे उद्योग और कर्मका सन्देश-वाहक बनानेका दावेदार है। उसे भाषासे बहस नही। आदर्श व्यापक होनेसे भाषा अपने आप सरल हो जाती है। भाव-सौन्दर्य बनाव-सिगारसे बेपरवाही ही दिखा सकता है। जो साहित्य-कार अमीरोंका मुँह जोहनेवाला है वह रईसी रचना-शैली स्वीकार करता है, जो जन-साधारणका है वह जन-साधारणकी भाषामे लिखता है। हमारा उद्देश्य देशमे ऐसा वायु-मण्डल उत्पन्न कर देना है, जिसमे अभीष्ट प्रकारका साहित्य उत्पन्न हो सके और पनप सके। हम चाहते हैं कि साहित्य-केन्द्रोमे हमारी परिषदें स्थापित हो और वहाँ साहित्यकी रचनात्मक प्रवृत्तियोपर नियम-पूर्वक चर्चा हो, नियम पढे जायँ, बहस हो, आलोचना-प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायु-मण्डल तैयार होगा। तभी साहित्यमे नये युगका आविर्भाव होगा।

हम हरएक सूबेमे, हरएक ज़बानमे, ऐसी परिषदें स्थापित कराना चाहते हैं जिनसे हरएक भाषामे अपना सन्देश पहुँचा सके। यह समझना भूल होगी कि यह हमारी कोई नई कल्पना है। नहीं, देशके साहित्य-सेवियोके हृदयो मे सामुदायिक भावनाएँ विद्यमान है। भारतकी हरएक भाषामे इस विचारके बीज प्रकृति और परिस्थितिने पहलेसे बो रक्खे हैं, जगह जगह उसके अँखुये भी निकलने लगे हैं। उसको सींचना, उसके लक्ष्यको पुष्ट करना हमारा उद्देश्य है।

हम साहित्यकारोमें कर्मशक्तिका अभाव है, यह एक कडवी सचाई है; पर, हम उसकी ओरसे आँखें नही बंद कर सकते। अभी तक हमने साहित्यका जो आदर्श अपने सामने रक्खा था, उसके लिए कर्मकी आवश्यकता न थी। कर्माभाव ही उसका गुण था; क्योकि, अक्सर कर्म अपने साथ पक्षपात और संकीर्णताको भी लाता है। अगर कोई आदमी धार्मिक होकर अपनी धार्मिकतापर गर्व करे, तो इससे कही अच्छा है कि वह धार्मिक न होकर 'खाओ-पियो, मौज करो'का क़ायल हो। ऐसा स्वच्छंदाचारी तो ईश्वरकी दयाका अधिकारी हो भी सकता है; पर, धार्मिकताका अभिमान रखनेवाले के लिए इसकी संभावना नही।

जो हो, जब तक साहित्यका काम केवल मन-बहलावका सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हलका करना था तब तक उसके लिए कर्मकी आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था जिसका ग़म दूसरे खाते थे; मगर, हम साहित्यको केवल मनोरंजन और विलासिताकी वस्तु नही समझते। हमारी कसौटीपर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्यका सार हो, सृजनकी आत्मा हो, जीवनकी सचाइयोका प्रकाश हो,—जो हममें गति और संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नही; क्योकि, अब और ज़्यादा सोना मृत्युका लक्षण है।

———

विज्ञान और साहित्य

ज्ञानकी प्राथमिक अवस्थामे मनुष्यके निकट स्वप्न और सत्यमे अधिक भेद न था। जो उसने सपनेमें देखा, जो कल्पना की, उसेही सच मान लिया। और जिसको आजकल हम वास्तव कहकर चीन्हते हैं: पत्थर, धातु, आदमी, समाज, सरकार: ये सब-कुछ उसके लिए उतना ही अवास्तव अथवा संदेहास्पद था जितना कि उसका स्वप्न।

आँख खोलते ही उसने देखा: सूरज है जो चमकता है; उसने तुरन्त कहा, 'सूरज बडा कान्तिमान् देवता है।' उसने और भी देखा कि सूरज पूरबमें उगता और पच्छिममे डूबता है,—इस तरह वह चलता भी है, और उसने कहा 'सूरज देवताके रथमें सात घोडे हैं जो उसे तेजीसे खींचते हैं।' यो आदिम मनुष्यने जब सूर्यको देखा तब उसे आह्लाद हुआ, विस्मय हुआ, भक्ति हुई और सूरजके सम्बन्धमें उसने जो धारणा बनाई उसमें ये सब भाव किसी न किसी प्रकार व्यक्त हुए। सूर्य उसके निकट एक पदार्थ-मात्र न रहा जो ज्ञान गम्य ही हो, वह उसके निकट देवता बन गया।

आँख मींचनेपर उसने सपने देखे। देखा, वह पक्षीकी तरहसे उड सकता है, मछलीकी तरह पानीमें तैर सकता है,—पल-भरमें सागरोंको वह पार कर गया, सागरोंके पार हरियाली ही हरियाली है और वहाँ मीठी बयार चलती है। उसने झटसे कहा, 'वह है स्वर्ग। वहाँ अत्यन्त स्वरूपवान् व्यक्ति बसते हैं, वहाँ दुःख है नहीं, प्रमोद ही प्रमोद है।'

यह सपनेका स्वर्ग उसके निकट वैसा ही वास्तव होकर रहा जैसा आँखोसे दीखनेवाला सूरज। सूरजके प्रति उसने जलका तर्पण दिया तो इसी प्रकार अन्य देवताओंका समारोप करके उसने उनके प्रति अपनी कृतज्ञताका ज्ञापन

किया। देवताओंके नाम बने, मूर्तियाँ बनीं, स्तवन बने और यह देवता-लोग उसके जीवनके साथ एकाकार होकर, हिल-मिलकर, रहने लगे।

इस प्राथमिक ज्ञानके उद्बोधनकी अवस्थामे मनुष्यने अपनेको जब विश्वसे अलहदा अनुभव किया तब उसके साथ भाँति-भाँतिके रिश्ते भी कायम रक्खे।—तब उसका समस्त ज्ञान अनुभूतिसूचक ही रहा। विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान, अर्थात् विज्ञान, बहुत पीछे जाकर उदयमे आया।

नानीने अपने नन्हेंसे बच्चेको चन्दा दिखाते हुए कहा, 'देखो बेटा, चन्दा मामा!'

बच्चेने उसे सचमुच ही अपना चन्दा मामा बना लिया। जब जब उसने चाँद देखा, ताली बजाकर, नानीकी उँगली पकडकर कहा, 'देख नानी, चन्दा मामा!'

पर जब बच्चा बढ़कर बडा हुआ तब चाँद देखकर उसका ताली बजाना ख़त्म हो गया। चन्द्रमा देखकर किसी भी प्रकारके आह्लादकी प्राप्ति उसे नहीं होने लगी। आह्लाद कम हो गया, उत्सुकता भी कम हुई,—पर उसकी जगह एक गम्भीर जिज्ञासाका भाव जाग उठा। उस बडी उमर पाये हुए आदमीने कहा—

'चन्दा मामा नही है। मामा कहना तो मूर्खता है, निरा बचपन है। लाओ, टेलिस्कोप लगाकर देखें चन्द्रमा क्या है?'

चन्द्रमामें कुछ काला काला-सा दीखता है। हमारी कल्पना, जिसमें आत्मीय भावकी शक्ति है, झट वहाँ तक दौड़ गई और उसने कहा—

'वहाँ बैठी बुढ़िया चर्खा कात रही है।' दूसरेने ऐसा ही कुछ और कह दिया। यह कहकर मानो हमने सचमुच कुछ तथ्य पा लिया है, ऐसी प्रसन्नता मनको हुई।

पर उमरवाले बालकने फिर कहा, 'नहीं नहीं, मेरे टेलिस्कोपमे जो दीखेगा चाँदमेंका काला काला दाग़ वही है। जब तक साफ़ साफ़ उसमें कुछ नही दीखता तब तक कुछ मत कहो। यह तुम क्या चर्खेवाली बुढ़ियाकी वाहियात बात कहते हो!'

जब शनैः शनैः इस प्रकार विश्वको आत्मसात् करनेकी मानवकी प्रक्रियामें यह द्विविधा आती चली, उसी समयसे मनुष्यके ज्ञानमें भी विभक्तीकरण हो

चला। इससे पहले जो था, सब साहित्य था। उस समय मनुष्य ज्ञाता और शेष विश्व ज्ञेय न था। वह भी विश्वका अंश जैसा था। उसमें अहम् सर्वप्रधान होकर व्यक्त न हुआ था। प्रकृति सचेतन थी और जगत् विराट्मय था। पंचतत्त्व देवता-रूप थे और भिन्न भिन्न पदार्थ उनके प्रकाश-स्वरूप। तब विश्व मानो एक परिवार था और मानव उसका एक एक सदस्य। मानों विराटकी गोदमे बैठा हुआ वह एक बालक था।

उस समय उसकी समस्त धारणाएँ अस्पष्ट थी अवश्य, पर अनिवार्य रूपमे अनुभूतिसूचक थीं, प्रसादमय थी।

आदमीने चकमकके दो टुकडोको रगड़कर अग्नि पैदा की। पर उसने यह नहीं कहा, 'चकमकके टुकड़ोको रगडा, इससे आग पैदा हुई है।' उसने नही कहा, 'देखो, मै इस तरह आग पैदा कर लेता हूँ।' उसने माना, अग्नि-देवता प्रसन्न हुए हैं। उन्हीका प्रसाद है कि यह स्फुलिग उसे प्राप्त हुआ है। चकमककी रगड़ तो प्रसाद-प्राप्तिके लिए निमित्तमात्र साधन है।

आज दियासलाई जलाकर हमने आग पाई और एक फार्मूला (= सूत्र) प्रस्तुत किया कि अमुक रसायन-तत्त्वोसे बनी हुई दियासलाईको अमुक मसालेसे बनी सतहपर रगड़ने पर अवश्य अग्नि प्राप्त होगी। उस फार्मूलेके सहारेसे हमने देवताका निर्वासन कर दिया और अग्नि हमारी चेरी होकर रह गई।

यह फार्मूला-बद्ध धारणा स्पष्ट, निश्चित और कदाचित् अधिक तथ्यमय अवश्य है, किन्तु अनुभूतिसूचक नही है। इस धारणासे हमारे चित्तके किसी भावको तृप्ति नही प्राप्त होती।

अधिकाधिक अनुभूति-सञ्चय और अवबोध-वृद्धिके बाद मनुष्यने अपनेको ज्ञाता अनुभव करना आरम्भ किया। उसने अपने को पदार्थोंसे और पदार्थोंको अपनेसे एक बार अलग करके फिर उन्हें बुद्धिके मार्गद्वारा अपने निकट लानेकी चेष्टा की।

हम कह चुके हैं, मानव अपनी सब चेष्टाओं, सब प्रयत्नो और सब प्रपञ्चो-द्वारा, जाने-अनजाने एक ही सिद्धिकी ओर बढ़ रहा है। और वह सिद्धि है अपनेको विश्वके साथ एकाकार करना और विश्वको अपने भीतर प्रतिफलित देख लेना। बुद्धिके प्रयोगद्वारा भी वह इसी अभेद-अनुभूति तक पहुँचना चाहता

है। किन्तु मानव-बुद्धि उस तलकी वस्तु है जहाँका सत्य विभेद है, अभेद नहीं। वह अन्वयद्वारा चलती है, खण्ड खण्ड करके समयको समझती है। अहंकार उसका मूल है और ज्ञेयका पार्थक्य उसकी शर्त्त।

जहाँ यह बुद्धि प्रधान होकर रही, जहाँ उसने पदार्थको उसके चारों ओरके सम्बन्धोंसे तोड़कर उसे समझनेकी चेष्टा की,—और जिसका परिणाम जीवनके रस और नीतिसे इस प्रकार अधिकाधिक विच्छिन्न होकर प्रकट हुआ कि जिससे अनुभूति कम और यत्न अधिक व्यक्त हुआ, और जो अन्ततः रेखाबद्ध और फार्मूला-बद्ध विद्या हो पड़ी,—वही वस्तु है विज्ञान।

मनुष्यके विकास-आरम्भके पर्याप्त कालके अनन्तर विज्ञानका प्रादुर्भाव हुआ। आदिमें तो विज्ञानकको भी अनुभूति-मय रखनेकी चेष्टा रही। अर्थात् रूपकों, कहानियो और श्लोकोंद्वारा उसे प्रकट किया गया। बहुत पीछे जाकर, उसे व्यवस्था-बद्ध विज्ञानका वह रूप मिला जो जीवनकी असली आवश्यकतासे विच्छिन्न हो गया।

इसके विरोधमें जब मानवने अपने व्यक्तित्वके पूरे ज़ोरसे विश्वको अपनानेकी चेष्टाको शब्दोंमें व्यक्त किया,—जो शुद्ध अनुभूतिमय है, जहाँ लगभग स्रष्टा ज्ञाता है ही नहीं वरन् वह अपनी सृष्टिसे एकाकार है, जहाँ सम्बन्ध सिरजनका है जाननेका नहीं, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेयका पार्थक्य नहीं है और जहाँ स्रष्टा और सृष्टिकी एकता है,—वह है साहित्य।

इस तरह विज्ञान प्रथमावस्थामें साहित्य है।

और अपनी अन्तिम अवस्थामें भी,—जब वह केवल बुद्धिका व्यापार नहीं है, और जब वह प्रसाद-मय, रहस्य-मय, और मानों ईश्वराभिमुख है,—वह साहित्य है।

कहा गया है जानना ही बनना है—knowing is becoming; जहाँ जाननेका स्वरूप बनते जानेका है, जहाँ ज्ञान संग्रहसे अधिक रचना करता है वहाँ विज्ञान शुद्ध ज्ञान है और साहित्य भी शुद्ध ज्ञान है,—अर्थात् एक विज्ञान है।

साहित्य और समाज

हिन्दी साहित्यमे अब जो नई शक्तियाँ आ रही है, उनमे बहुभागको सामाजिक मान्यता प्राप्त नही है। कुछ काल पहले तक हमारा साहित्य उच्च-वर्गीय था। उसके उत्पादक समाजके प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्ति थे। अब अधिकाश ऐसा नही रह गया है। जिनको समाजमे पैर टेकनेको कोई ठीक ठौर नहीं है, वे लोग भी आज लिखते हैं। इससे प्रश्न होता है कि समाजकी और साहित्यकी परस्पर क्या अपेक्षा है?—क्या सम्बन्ध है?

साहित्य अब अधिकाधिक व्यक्तिगत होता जा रहा है। पहले वह अपेक्षाकृत समाजगत था। समाजकी नीति-अनीतिकी मान्यताओकी ज्योकी त्यो स्वीकृति साहित्यमे प्रतिबिम्बित दीखती थी। अब उसी साहित्यमें समाजकी उन स्वीकृत और निर्णीत धारणाओके प्रति व्यक्तिका विरोध और विद्रोह अधिक दिखाई पडता है। अतः, यह कहा जा सकता है कि साहित्य यदि पहले दर्पणके तौरपर सामाजिक अवस्थाओको अपनेमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावसे धारण करनेवाली वस्तु थी तो अब वह कुछ ऐसी वस्तु है जो समाजको प्रतिबिम्बित तो करे, पर चाटुतासे अधिक चोट दे, और इस भाँति समाजको आगे बढ़ानेका काम भी करे। साहित्य अब प्रेरक भी है। वह ला देता ही नही, अब कराता भी है। हमारी बीती ही उसमे नही, हमारे मनोरथ भी आज उसमे भरे हैं।

जो समाजके प्रति विद्रोही है, समाजकी नीति-धर्मकी मर्यादाओकी रक्षाकी जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेकर अपनी ही राह चला चल रहा है, जो बहिष्कृत है और दण्डनीय है,—ऐसा आदमी भी साहित्य-सृजनके लिए आज एकदम अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता। प्रत्युत देखा गया है कि ऐसे लोग भी हैं जो आज दुतकारे जाते हैं, पर अपनी अनोखी लगन और अपने निराले विचार-

साहित्यके कारण कल वे ही आदर्श भी मान लिये जाते हैं। वे लोग जो विश्वके साहित्याकाशमे द्युतिमान् नक्षत्रों की भाँति प्रकाशित हैं, बहुधा ऐसे थे जो आरम्भमे तिरस्कृत रहे, पर अन्तमें उसी समाज-द्वारा गौरवान्वित हुए। उन्होंने अपने जीवन-विकासमे समाजकी लाञ्छना की वैसे ही परवा नहीं की, जैसे समाजके गौरवकी। उनके कल्पनाशील हृदयने अपने लिए एक आदर्श स्थापित कर लिया और बस, वे उसीकी ओर सीधी रेखामे बढ़ते रहे। यह समाजका काम था कि उनकी अवज्ञा करे अथवा पूजा करे। उन व्यक्तियोंने अपना काम इतना ही रक्खा कि जो अपने भीतर हृद्गत लौ जलती हुई उन्होने पाई, उसको बुझने न दें और निरन्तर उसके प्रति होम होते रहे। समाजने उन्हे आरम्भमें दरिद्र रक्खा, ठीक। अशिष्ट कहा, अनुत्तरदायी समझा, यातनायें तक दीं, हँसी उड़ाई,—यह सभी कुछ ठीक। किन्तु, जो कल्याण-मार्ग उन्होने थामा उसीपर वे लोग सबके प्रति आशीर्वादसे भरे ऐसे अविचल भावसे चलते रहे कि समाजको दीख पडा कि उनके साथ कोई सत्-शक्ति है,—जब कि, समाजकी अपनी मान्यताओंमे सुधारकी आवश्यकता है।

ऐसे लोग पहले तिरस्कृत हुए; फिर पूजित हुए। संसारके महापुरुषोंके चरित्रोंमें यही देखनेमे आता है। समाजके साथ उनका नाता गुलामीका नही होता; नेतृत्वका होता है। वे अपनी राह चलते हैं। समाज उन पर हँसता है, किन्तु फिर उन्हींके उदाहरणसे अपनी आगेकी राहको प्रकाशित भी पाता है।

काल-भेदकी अपेक्षा हमने साहित्यकी प्रकृतिमें भेद चीन्हा। किन्तु, गुण-भेदसे भी साहित्यमें दो प्रकार देखे जा सकते हैं। एक वह जो समाजके स्थायित्वके लिए आवश्यक है, दूसरा वह जो समाजको प्रगतिशील बनाता है।

साहित्य दोनो प्रकारके आवश्यक है। लेकिन, यदि अधिक आवश्यक, अधिक सप्राण, अधिक साधनाशील और अधिक चिरस्थायी किसीको हम कहना ही चाहे तो उस साहित्यको कहना होगा जो अपने ऊपर खतरे स्वीकार करता है, और चाहे चाबुककी चोटसे क्यो न हो, समाजको आगे बढ़ाता है। वह साहित्य आदर्श-प्राण होता है, भविष्यदर्शी होता है, चिर-नूतन होता है,—किन्तु, ऐसा साहित्य सहजमान्य नहीं होता।

समाजमें दो तत्त्व काम करते हुए दीखते हैं। समाजके सब व्यक्ति न्यूनाधिक रूपमें इन्ही दोनों तत्त्वोके प्रतिनिधि समझे जा सकते है। एक ग्राहक है, एक विकीर्णक। एक व्यक्तित्वशून्य, एक सव्यक्तित्व। एक वह जो अपने भीतर ही अपना केन्द्र अनुभव करता है; दूसरा वह जो अपने परिचालनके लिए अपनेसे बाहर देखनेकी अपेक्षा रखता है। एक गतिशील, दूसरा संवरणशील।

सामाजिक जीवन अथवा समाजका व्यक्ति इन्ही दोनों तत्त्वोके न्यूनाधिक अनुपातका सम्मिश्रण है। एक ओर गाँवका बनिया है जो दादा-परदादाके जमानेसे अपनी नोन-तेलकी दूकानपर बैठता है और लाखों रुपया जोडकर अपना कुनबा और अपनी जायदाद बढ़ानेमें लगा रहता है। दूसरी ओर वह है जिसे घरबारसे मतलब नही, जहाँ ठौर मिला वहीं बसेरा डाला, ब्याह की बात जिसे सुहाती तक नही,—चक्कर ही काटता डोलता रहता है। इस व्यवसाय-बद्ध (= stationary) और गतिशील (= mercurial),—दोनों प्रकारके जीवनो और व्यक्तियो का साहित्य मे समावेश है। दोनोमेसे कोई उसके लिए अनुपयुक्त नही और कोई उसके लिए वर्ज्य नही।

किन्तु, समाज साहित्यकी भाँति इतनी भावना-जीवी वस्तु नही है, इसलिए, वह इतनी उदार और महत्त्वपूर्ण वस्तु भी नहीं है। समाजमे व्यवसायशील तत्त्वका अधिक आदर है और अधिक अधिकार है। इसलिए, दूसरे तत्त्वके प्रति और उस तत्त्वके प्रतिनिधि व्यक्तियोके प्रति समाजमें अवमानना और सङ्घर्षका भाव अधिक रहता है।—अर्थात्, समाज वैश्य-प्रधान है, फकीर उसकी दुनियादारीके लिए अनावश्यक है। वैश्य शासनकी सत्ताको हाथमे लेगा, फकीर केवल वैश्यकी कृपापर जीवेगा। अगर फकीर वैश्यकी कृपाको साभार स्वीकार नही करता तो वैश्य उसके लिए न्यायालय और जेलखाने खड़े करेगा।

यह समाजकी हालत है। पर वही समाज अपने साहित्यमें और अपने आदर्शमे उसी फकीरके गुण-गान करेगा! फकीरका आदर्श वैश्यके बहुत मन भाता है। फकीर अगर कुछ गड़बड़ न करे तो उसे अपने घरमें प्रतिष्ठा देकर वैश्य अपने परलोकको भी सुव्यवस्था कर लेगा। पर, फकीरीके रास्तेपर एक कदम चलनेकी बात भी अगर उसके नाती-पोतोके मुँहसे निकली तो फिर उनकी खैर नही!

दोनों तत्त्वोंको अपनेमे समानरूपसे धारण करनेवाला साहित्य एकाङ्गी जीवनवाले समाजसे क्या अपेक्षा रक्खे ? उससे क्या सम्बन्ध रक्खे ?—इस प्रश्नका सीधा उत्तर नही दिया जा सकता। उत्तर यही बन सकता है कि साहित्यकारके व्यक्तित्वकी अपेक्षा ही उसका समाजके साथ सम्बन्ध होगा।

धातुका बना हुआ पैसा-रुपया-गिन्नी ठोस सत्य चीज़ है। जिनकी सत्य-कल्पना इस ठोस धातुमय तलसे ऊँची नही उठती या नीची नही जाती वे व्यक्ति यदि लिखेंगे तो उनकी रचनाओंका समाजके साथ सम्बन्ध स्वीकृतिका, आज्ञाकारिताका अथवा अनुमोदनाका होगा।

यह भी हो सकता है कि ऊपरसे उनके साहित्यमे समाजके लिए उगली हुई गालियाँ दिखाई दें, लेकिन, वे वैसी ही जली-कटी बातें होगी जैसी कोई रूठी और कुपित पत्नी खीजमे अपने पतिको कहती है। उन्हीं जली-भुनी बातोंसे पता चलता है कि वे समाजकी कृपाके और उसके ध्यानके,—attention के याचक है। जो पैसा चाहते हैं, जो पैसेके लिए जीते हैं, वे बड़ी मीठी मीठी चीज़ें या बडी चरपरी चीज़ें लिखकर समाजको भेंट करते है। यह कौन नहीं जानता कि मिठाई बिकती है तो चरपरी चाट भी कुछ कम नही बिकती ? ऐसे साहित्य और साहित्यकारोंका समाजके साथ सम्बन्ध उस दूकानदार जैसा है जो सबको ग्राहकके रूपमे देखना चाहता है, या उस पत्नीके जैसा है जो जानती है कि पतिके बिना उसका जीवन नही। इस साहित्यमें, तीखे-जले व्यङ्गके तीर चाहे जितने हो, समाजकी स्वीकृति प्रधान होती है। मनोरञ्जन उसमे अधिक होता है, सत्य कम। प्लाट अधिक होता है, विश्लेषण कम। बनावट अधिक रहती है, गहराई कम। साहित्यके गोदाममें अधिक माल इसी रकमका है। क्योंकि समाजमे घर-बार बनाकर छोटी-मोटी कमाई करके जीनेवाले लोग ही अधिक है।

पर फकीर कम है। वैसे फकीर जिनकी फकीरी दूकानदारी नही है। उन फकीरोंका समाजके साथ सम्बन्ध क्या है ?—वे समाजके हितैषी हैं। वे समाजको गाली देना नहीं जानते, पर, समाजकी हाटसे वे विमुख रह सकते हैं। अपने जीनेके लिए वे समाजके इशारेकी ओर नही देखते। वे लिखते है तो हितैषिताके नाते लिखते है और अपने धर्मपालनके नाते लिखते हैं।

सत्यकी प्रतिष्ठाके लिए (अर्थात् सत्यके उस रूपकी प्रतिष्ठाके लिए जो उनके भीतर प्रतिष्ठित है,—बाहर नही) वे लिखते है। कहा जा सकता है, समाजके बाज़ारमें डोलनेवाले लोगोंके लिए वे नहीं लिखते। उनका समाजके साथ सम्बन्ध,—उनकी ओरसे कहा जा सकता है, निरपेक्ष सत् कामनाका है,—निष्काम हितैषिताका है। समाजकी ओरसे वही सम्बन्ध आरम्भमे उपेक्षा, लाञ्छना, बहिष्कारका होता है, अन्तमे आदर और पूजाका।

साहित्यके अमर स्रष्टाके रूपमे, इस भाँति हम देखते हैं कि, वे ही लोग हमारे सामने आते हैं जिन्होने अपनेको अपनी राहपर अपने आप चलाया। उन्होंने यह कम चाहा कि लोग उन्हें अच्छा गिने। जैसे भी कुछ वे थे उसी रूपमे उन्होंने समाजके सामने अपनेको प्रकट होने दिया। आज चाहे समाज उन्हे महत्-पुरुष भी गिनता हो, लेकिन, चूँकि समाजकी नीति-धारणा बहुत धीमी चालसे विकसित होती है, इसलिए, समाजको बरबस उन्हें दुष्टचरित्र और दुःशील मानना पडता है। उनकी महत्ताके प्रकाशमे निस्सन्देह समाज-सम्मत धारणाओमे परिवर्तन होता रहता है। फिर भी, वे सहसा इतनी विकसित नही हो सकती कि हर प्रकारकी महत्ता उनकी परिभाषामें बँध जाय। यही कारण है कि आज जिस ईसाको दो-तिहाई दुनिया ईश्वर-तुल्य मानती है, उसको सूली चढ़ाये बिना भी दुनियासे नही रहा जा सका। ईसाका दुनियासे क्या सम्बन्ध था? वह त्राता था, उपदेष्टा था, सेवक था। दुनियाने उसके साथ अपना क्या सम्बन्ध बनाया? उसे फाँसी दी, और इस तरह अपनी व्यवस्था निष्कण्टक की। और अब दुनियाने उसके साथ क्या सम्बन्ध बना रक्खा है? दुनिया कहती है, 'वह प्रभु था, अवतार था।'

साहित्यकार (अर्थात्, दूसरे प्रकारका साहित्यकार) वर्तमानसे अधिक भविष्यमे रहता है। दुनियाको खुश करनेसे अधिक दुनियाका कल्याण करना चाहता है। इसलिए, वह दुनिया लाचार होती है कि उसको न समझे, उसकी उपेक्षा करे या, बहुत हो तो, उसकी पूजा करे,—उसका भय करे। दुनिया, क्योंकि उसे समझ नहीं सकती इसलिए, उसे प्रेम नही कर सकती। ऐसे साहित्यकारका यह दुर्भाग्य होता है,—अथवा यही उसका सौभाग्य है, कि वह लौकी भाँति अपने आपमे ही जलता चला जाय। वह दुनियाको खुश नही करना चाहता, रिझाना

नहीं चाहता,—उसका भला करना चाहता है; पर, दुनिया अपना भला क्यों चाहे ?—वह अपनी खुशी चाहती है।

अधिकतर साहित्यिक दुनियाके मनोरञ्जन और विलासका सामान देते हैं। वह ऐन्द्रिय साहित्य है। पद्य-साहित्यमे लगभग अस्सी फ़ी-सदी साहित्य वैसा वैषयिक साहित्य है, अर्थात्, व्यसनशील साहित्य,—हल्के-से नशे और भुलावेमें डालनेवाला साहित्य। इस प्रकारके साहित्यके लेखकोंका सम्बन्ध समाजके साथ स्वीकृतिका है। वे समाजके मनोरञ्जन है, समाजके जीवनके हमजोली हैं। समाजके हृदयकी गहरी वेदनाके साथ एकात्म्य पानेकी चिन्ता और अवकाश उन्हे नही है।

अपने लिए दूसरी अस्पृहणीय स्थिति स्वीकार करके चलनेवाले दूसरे वे लोग हैं जो समाजको विलासके साधन,—indulgence देनेकी ओर प्रवृत्त नहीं होते। वे समाजके रुखकी ओर नहीं देखते, उसके रोगकी ओर देखते हैं। वे अत्यन्त नम्र हैं, पर अत्यन्त कठोर भी। वर्तमानको अपने स्वप्नके रंगोमें रँगा हुआ देखना चाहते हैं। उसका समाजके साथ सम्बन्ध स्वीकृतिका नहीं होता, अहम्मन्य अस्वीकृतिका भी नही होता,—मानो वह निष्काम होता है।

इस तरह एक साहित्य वह है जिसे समाजकी मज़ेकी माँग बनाती है। दूसरा साहित्य वह है जो समाजके नेतृत्वके लिए सृष्ट होता है। पहले प्रकारके साहित्यमें समाज स्वाद लेता है, प्रसन्न होता है,—उसे उसमें चाव होता है। दूसरा समाजको शुरूमे कुछ फीका फीका, कठिन, गरिष्ठ, मालूम होता है; पर, उसीको फिर वह औषधके रूपसे स्वीकार करता है।—उसी भाँति, साहित्यकार हैं जो समाजमें सम्पन्न दीखते हैं, और साहित्यकार है जो समाजसे दूर बहिष्कृत दीखते हैं।

समाजका और साहित्यका आरम्भसे ऐसा ही सम्बन्ध चला आता है। हम नही समझते, कभी कुछ और हो सकेगा।

———

कला और उसका प्रयोजन

हमें कलाका विवेचन करते समय उसकी व्याख्यासे ही प्रारम्भ करना पड़ता है। जिस तरह मनुष्योंको आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियोंवाले शरीरकी ज़रूरत है, कुटुम्बको घरकी ज़रूरत है और समाजको व्यवस्थाकी ज़रूरत है, उसी तरह कलाको व्याख्याकी ज़रूरत है।

लेकिन, मेरे विचारमे व्याख्या चीज़ ही कलजुगकी है। यदि एक व्यक्ति व्याख्या करता है, तो साधारण तौरसे सीधी-सादी प्रकृतिका मनुष्य भी उसे समझनेकी अपेक्षा उसकी छान-बीन करनेकी तरफ ही अधिक झुकता है और इस व्याख्यामे वह एकाङ्गिता, इकतरफापन देखता है और इसीमेसे तर्क-कुतर्क पैदा होते हैं। यदि कलाकी तर्क-शुद्ध व्याख्या करने जाओ तो कलाकी हत्या हो जाती है और हमारी बुद्धि प्रतिकूल हो उठती है।

कलाका आनन्द लूटते लूटते कलाको पूरी तरहसे पहचाननेकी स्वाभाविक प्रथा छोडकर उसकी व्याख्यामे उतर पडना तो उसी तरह है जैसे किसी सुन्दर फूलको जी भरकर देखने और सूँघनेकी अपेक्षा छूरीसे टुकड़े टुकडे करके उसके अन्दरकी रचनाकी जाँच-पडताल करना। कलाकी प्रतीति व्याख्याद्वारा भले ही स्पष्ट होती हो, पर, मुझे तो ऐसा नही भासता कि व्याख्यासे अब तक किसीको कलाकी शुद्ध प्रतीति हुई है।

जिस तरह सदाचार या धर्माचारकी व्याख्या करना कठिन है, उसी तरह कलाका लक्षण, परिभाषा और उनका निर्वाचन करना भी मुश्किल है। फिर भी, इतना तो सभी स्वीकार करेंगे कि जिस तरह मातृमान्, पितृमान्, आचार्य-वान् युवक-जन अपने बड़े-बूढ़ोंकी संगतिसे ही सदाचारका रहस्य जान लेते हैं, उसी तरह, कलाका रहस्य भी जीवन-रसिक, संस्कार-समर्थ कला-धुरीणोंके

सत्संगसे और उनकी अनेक कला-प्रवृत्तियोंका ध्यान करनेसे हमें हृदयंगम हो सकता है। और जहाँ उत्कृष्ट कला न हो वहाँ अगर कोई उसे कलाके रूपमें हमारे आगे रक्खे, तो उससे हमे ग्लानि ही पैदा होती है।

इसलिए, कलाका विवेचन करनेके लिए तार्किक या दार्शनिक शैलीको लेकर उसकी चर्चा करनेकी अपेक्षा यदि मनुष्य यह बतला दे कि उसे क्या रुचा और क्या नही रुचा और वैसी भावना पैदा होनेके कौन-कौन-से कारण आकर उपस्थित हुए तो कला और कलाप्रेमी समाजकी बडी भारी सेवा हो सकती है।

फिर भी, आजके इस विचित्र ज़मानेमें कलाके नामसे इतना ज्यादा कूड़ा-करकट बिक और खप रहा है और निरी विलासिताने कलाकी जगहको इस तरह हड़प लिया है कि अगर हम कलाके सच्चे स्वरूपका निर्णय न कर पायें तो कलाको प्रोत्साहन देनेकी प्रवृत्तिमे ही सच्ची कलाका दम घुट जायगा।

'शुक्र-नीति'में कलाकी व्याख्या करते हुए कहा है कि गूँगेके लिए जो साध्य हो वही कला है। साहित्य और सगीतसे कलाको अलहदा रखनेके लिए ही शायद उसकी यह व्याख्या की गई है। परंतु, गूँगे लोग भी लिखनेमें कामयाब हो जाते हैं, यह इस व्याख्याका अधूरापन है। आजकल ललित साहित्य ही कलाका मुख्य अग बन गया है। नाटक, काव्य, कहानियाँ, सरस शैलीमें लिखे हुए निबंध,—ये सभी कला-कृति माने जाने लगे हैं, और पुस्तक-लेखक अब प्रधान कलाकार गिने जाते हैं।

एक पक्ष ऐसा है जो कहता है कि प्रकृतिका सौन्दर्य चाहे जितना आकर्षक, मोहक और उत्कर्ष देनेवाला क्यों न हो, फिर भी, उसे कला नही कह सकते। कला तो मनुष्यकी ही रचना होनी चाहिए। इस पक्षमे बहुत-कुछ सचाई है और इसमे एक विशेष मर्यादा या एकांगिता भी है। परन्तु, इसकी चर्चा थोड़ी देरके लिए अलग रखकर हम इतना तो ज़रूर स्वीकार करेंगे कि प्रकृतिके सौन्दर्यमे कला भले ही न हो, पर कलाकी दीक्षा देनेकी शक्ति तो ज़रूर है।

कलाके कितने ही भेद हमने असलमें कुदरतसे ही लिये हैं। पहला आकर्षण प्रकृतिका होता है। उसके ध्यानसे हम कुछ विशेष मानवी और दैवी भाव उत्पन्न करते हैं, और सौन्दर्यपर ही भावोंके वहन करनेकी शक्तिका

आरोप करते हैं। सौन्दर्यके साथ भावोका सम्मिलन हुआ कि तुरन्त उसमेसे सृजन-शक्ति जाग उठती है और वह सृजन-शक्ति अपनी प्रतिभाके बलसे नये नये रूप, नई नई आकृतियाँ, नये नये वर्ण-विन्यास और नये-नये आलाप पैदा करती है। भावोकी जागृति, उनकी नवीन रचना, उनकी संक्रान्ति और उसमेसे पैदा होनेवाली अस्वस्थताके अन्तमे मिलनेवाली तृप्ति,—यह सबका सब कलाका ही स्वरूप है। इसके लिए वाहनके रूपमे किस चीज़का उपयोग होता है, यह एक गौण प्रश्न है। मिट्टी, पत्थर, लकडी, धातु, काँच, साबुन, मोम, हाथी-दाँत आदि चाहे जिस चीज़की मदद लीजिए, रग, रेखा, धागा, मणि इनमेसे किसी भी चीज़की सहायता लीजिए, गद्य और गेय शब्दोका व्यवहार कीजिए या मूक अभिनय कीजिए, कला स्थापत्य (= भवन निर्माण) सम्बन्धी हो या नगर-रचना-सम्बन्धी हो, समाज-रचनाकी हो या किसी महाकाव्यके संविधानके चातुर्यकी हो,—कला तो सर्वत्र एक ही है। कलाका उद्गम वस्तु-समूहमे नही, मनुष्यके हृदयमे है।

हृदयके अमूर्त भावोको मूर्त वस्तुओद्वारा व्यक्त करना ही कलाका मुख्य कार्य है। अगर ये मूर्त वस्तुये अमूर्त भावोका वाहन बननेके सिवा अपनी ही तरफ मनुष्यका ध्यान खींचने लगे और इन्द्रियोको अपनी स्वाभाविक विषय-वासना-सम्बन्धी तृप्ति देने लगे तो समझिए, कि वहाँ कला मर चुकी है। और अगर वह मर नही गई है तो उसमें विकार तो ज़रूर आ गया है।

इसलिए, कला और विलासिता एक दूसरेके पडोसमे रहती हुई भी, और जीवनमें दोनोका अपना अपना स्थान होनेपर भी, आपसमे कभी मेल नहीं खाती। त्यागी मनुष्य जीवनके प्रलोभनोसे सैकड़ो कोस दूर भागता है, तपस्वी उनपर विजय प्राप्त करता है, तान्त्रिक प्रलोभनोंके वशमे होकर भी उन्हीमेसे परम-तत्त्वकी झाँकी पानेके लिए तड़फड़ाता है,—जब कि कला, इन प्रलोभनोके विषयका निर्लिप्त और तटस्थ-भावसे दर्शन या श्रवण करके, इन विषयोमेंसे ही किसी एकाधको केवल तटस्थ-साधन बनाकर उसमेसे ब्रह्मानन्द-सहोदर आनन्दका अनुभव करती है। कलाकी साधना बड़ी मुश्किल है,—ख़तरेसे खाली नही है; लेकिन, जिसके हाथमे इसकी कुंजी आ गई है उसके लिए तो यह साधना शुरूसे आखिरतक आनन्द ही आनन्द देनेवाली है।

यहाँ तटस्थता और उसके परिणामका एक उदाहरण देता हूँ। एक बार मै अपने मित्रसे मिलनेके लिए एक गाँवमे गया था। वहाँ मुझे एक बडे बिच्छूने डंक मार दिया, दवा न मिली, ज़हर चढ़ने लगा। अब क्या किया जाय? एक उपाय सूझा। यह सोचकर कि बिच्छूका ज़हर कैसे चढ़ता है, इसका सूक्ष्म निरीक्षण करनेका यह एक अच्छा मौक़ा हाथ लगा है, और मानो किसी दूसरे ही आदमीको दर्द हो रहा है और इस दर्दके अंश अंश समझने और देखनेकी शक्ति मुझे ईश्वरकी ही कृपासे मिली है,—ऐसी तटस्थतासे उस ज़हरके असरकी लहरोके आक्रमणकी मैं जाँच-पडताल करने लगा। इन लहरोमें ज्वार-भाटा होता है; अब दर्द यहाँ तक पहुँचा, अब यहाँ तक,—इस तरह ज्यों ज्यो तटस्थ-भावसे उसका निरीक्षण करता गया, त्यो त्यो पीडा सह्य होती गई। इतना ही नहीं उस पीड़ामे कुछ मज़ा भी आने लगा और अन्तमें नींद आनेमे भी कठिनाई न हुई।

बहुतसे विनोद-प्रिय लोग अपनी फ़जीहतका तटस्थ-भावसे आनन्द ले-लेकर वर्णन करते है और बिना किसी पक्षपातके अपने स्मरण लिखते है। यह भी तटस्थ-भावका एक उदाहरण है। जहाँ इन्द्रियासक्ति, विलास लोलुपता और अहंकार है, वहाँ हमें यह समझना चाहिए कि न तटस्थता होती है और न तन्मयता। सुख तन्मयता नही है और आनन्द भी नही है। आनन्दका अनुभव तो अनासक्त तन्मयतासे ही लिया जा सकता है। ऐसी तन्मयता या तल्लीनताका ही नाम आनन्द है। इसमे अहंता या ममताके लिए अवकाश नही रहता।

कलामे कभी कभी 'परस्मैपदी' और 'आत्मनेपदी' का भेद करना पडता है। जिसमें अपने ही आनन्दका विचार होता है, अपने लिए ही जिसकी रचना होती है, वह कला 'आत्मनेपदी' है। और अपने किये हुए खुदके अनुभवको दूसरोंमे जगानेकी दृष्टिसे, और अपने आनन्दको दूसरोमें संक्रान्त करनेकी आतुरतासे, जिस कलाका निर्माण होता है वह 'परस्मैपदी' कला है। सभी कलायें ज्यादातर उभयपदी होती हैं। मूल हेतु चाहे जो हो; फिर भी वह 'उभयोर्विन्दते फलम्,'—दोनोका फल पाती है, और इसीलिए यह सवाल खड़ा करके कि 'कला व्यक्तिगत है या सामाजिक,' विरोध पैदा करनेका कोई अर्थ नही होता। जहाँ विरोध नही वहाँ विरोधका विकल्प उठाकर झगड़े पैदा करना इस संकीर्ण,—तंगदिल

युगका खास लक्षण है। व्यक्ति अगर संस्कार-हीन हो तो वे सामाजिक जीवनको बिलकुल असम्भव बना दे और असंस्कारी समाज व्यक्तिगत जीवनका दम घोट डाले। जहाँ मन और जीवन शिक्षित होता है वहाँ समष्टि और व्यष्टिके बीचमें विरोध कभी हो ही नहीं सकता। संस्कारिताद्वारा जीवनमे और मानव-जातिमें अविरोध, एकस्वरता या सङ्गीत पैदा करना ही बड़ीसे बड़ी कला है। कलाके व्यक्तिगत और सामाजिक,—दोनों पहलू हैं पर उनमे विरोध नहीं है।

पिछले दस बरसोमे इस प्रश्नको लेकर काफी चर्चा हुई है कि कलामें नग्नताका दर्शन कराया जाय या नही। पर उस समय भी यह सवाल बिलकुल नया नही था। पुराने जमानेमे हमारे तान्त्रिकोने नग्नताकी उपासना कुछ कम नहीं की है और हम उसके परिणाम भी देख चुके है; हमारी भाषाका निन्दित अर्थमें व्यवहृत होनेवाला 'छाकटा' शब्द 'शाक्त' शब्दपरसे ही बना है और यही इस प्रश्नका यथेष्ट उत्तर है। लेकिन, नग्नतामें भी पूर्ण पवित्रताका दर्शन कराया जा सकता है। दक्षिण भारतमे बाहुबलि गोम्मटेश्वरकी नंगी मूर्तियाँ हैं। ये इतनी बड़ी और विशाल हैं कि कई मीलकी दूरीसे लोग इन्हे देख सकते हैं, पर, इन मूर्तियोके चेहरोपर मूर्तिकारोने ऐसा अद्भुत उपशमभाव दरसाया है कि वह पवित्र नग्नता दर्शकको पवित्रताकी ही दीक्षा देती है।

पुरुषका शरीर हो या स्त्रीका, पशुका हो या पक्षीका, उसमें बीभत्सता है ही नही। अश्लीलता शरीरके ऊपर नहीं, वह तो मनके भावोमे है। अपने दिगम्बर (= नग्न) चित्रको अश्लील या गंदा बनाना या कला-पवित्र बनाना चित्रकारके हाथमे,—मूर्तिकारके हाथमे है।

आजकल विकारोको भड़काकर समाजसे पैसे ऐंठनेकी कोशिशे चल रही हैं। ऐसे समयमे यह बात लोगोकी समझमे नही आ सकती। क्या साहित्यमें, क्या कलामे, लोगोंकी चित्त-वृत्तिको कामुक और विलास-निमग्न बनानेका प्रयत्न करनेवाले कलाधरों और पुराने जमानेमे याकूती खा-खाकर वीर्यहीन बने हुए राजाओ और नवाबोकी विषयवासनाको बार बार जगानेवाले उनके आश्रित वैद्य-हकीमोंके बीचमें समयका फेर भले ही हो, पद्धतिका भी फेर हो, पर जातिका फेर नहीं है। यदि समाजको ऐसे विट-वर्गकी ज़रूरत हो तो वह भले ही उसे बनाये रक्खे; लेकिन, उसे 'कलाधर' कहनेकी कृपा तो न करे।

कलाका क्या प्रयोजन है ? इस प्रश्नकी हमेशासे चर्चा होती रही है और संभव है कि अनंतकाल तक होती रहे।

'काव्यं यशसे, अर्थकृते, व्यवहारविदे. शिवेतरक्षतये।'

इसके ऐसे ऐसे प्रयोजन पहलेके आचार्योंने बतलाये हैं। 'यशसे' (= यशके लिए) और 'अर्थकृते' (= धनके लिए),—ये दो प्रयोजन आज भी ज़बरदस्त हैं। पहलेकी अपेक्षा अब ये प्रयोजन ज्यादा सिद्ध भी होते हैं। विख्यात कलाकार देखते-देखते लखपती बन जाते हैं। उन्हे तरह तरहकी उपाधियाँ मिलती हैं। उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा राजदरबारो और विद्वानोंकी मंडलीमे बेहद बढ़ जाती है।

फिर भी, काव्यका या कलाका उद्देश धन और कीर्ति है, इसे तो इस जमानेका मनुष्य स्वीकार नहीं करेगा। यह तो सीधे और भोले भाले युगका लक्षण है। पुराने लोग मानते थे कि व्याकरण या संगीत सीखनेसे मोक्ष मिल सकता है। आजके लोग कहते हैं कि जीवनके तमाम सवालोंका रहस्य परखनेकी शक्ति और जीवनके सभी पहलुओंको विकसित करनेकी सामर्थ्य कलामे है,—साहित्य और सङ्गीतमें है। कला स्वतंत्र, स्वयंभू और अन्य-निरपेक्ष जीवन-दर्शन है। इतना ही फेर है कि जिसे पुराने ज़मानेके लोग मोक्षका साधन कहते थे, उसे इस समयके लोग आत्मानुभवका साधन कहते है।

आजकल कलाके प्रयोजन नीचे लिखे अनुसार बतलाये जाते है :—

१ Art for Art's sake—कलाके लिए कला।

२ Art for Life's sake—जीवनके लिए कला।

३ Art as an Escape—जीवनकी वास्तविकतामेंसे छूट भागनेके लिए कला।

४ Art as an Escape into Life—नीरस व्यवहारमेंसे छूटकर जीवनके आनन्दमें आश्रय लेनेके लिए कला।

५—Art for Service's sake—सेवाके लिए कला।

६ Art for Self-Realisation—आत्म-प्राप्तिके लिए कला।

७ Art for Joy—आनन्दके लिए कला।

८ Art as Recreation—विनोद-विश्रामके लिए कला।

१ Art as Creative necessity—सृजनकी अदम्य वृत्तिको तृप्त करनेके लिए कला।

जिसने कलाका आदर्श 'व्यवहारविदे'—'लोक-व्यवहारके ज्ञानके लिए' बतलाया है उसके मनमे क्या रहा होगा, सो तो हम नही जानते; लेकिन, उसका सिर्फ इतना ही मतलब नही है कि काव्य, नाटक, शास्त्र, पुराण आदिके परिशीलनसे व्यवहार मालूम किया जा सकता है, चतुराई विकसित होती है और कौशल बढ़ता है। चर्म-चक्षुसे और जड-बुद्धिसे बाज़ारका,—दुनियादारीका व्यवहार चलता होगा, विज्ञानके साधारण प्रयोग किये जाते होगे। पर विज्ञानका क्या और जीवनका क्या,—परम रहस्य समझनेके लिए और आदर्श व्यावहारिक कुशलता हासिल करनेके लिए कलाकारकी कलामय दृष्टि और उसकी अलौकिक समझ, प्रतिभायुक्त सूझ और वस्तुओं तथा प्रसंगोकी तह तक पहुँचनेकी भेदकता काव्य-शक्तिद्वारा ही,—यानी कलामय वृत्तिद्वारा ही प्राप्त हो सकती है। जिसके पास कलाकी दृष्टि नहीं है, वह दुनियाका रहस्य समझेगा ही क्या?

आजकल लोग सादीसे सादी चीज़ भी आडम्बरसे भरी हुई भाषामे लिखते हैं, जब कि पुराने लोग बडेसे बडे सिद्धात-दर्शनकी बातें भी सादेसे सादे घरू शब्दोके द्वारा हमारे सामने रखते थे। इसीलिए कविने कहा,

'काव्य व्यवहारविदे'

जब कि उसे कहना चाहिए कि

'काव्यं लोक-व्यवहार-उद्दीपनार्थम्'

व्यवहार अर्थात् व्यवहारके रहस्यका दर्शन और उस दर्शनका दैवीकरण,—इतना हमें और जोड़ देना चाहिए।

जो लोग मानते हैं कि कला जीवनकी नीरस वास्तविकतामेसे बचनेके लिए है, उनको जीवनका बहुत कड़वा अनुभव तो हुआ ही होगा; मगर, इससे भी अधिक, वे उन लोगोंमें से होने चाहिए जो जीवनसे हार चुके हैं। दु:ख, दारिद्र्य, अन्याय और परेशानियोसे आदमी भले ही घबराये, पर उसे जीवनसे नही हारना चाहिए। जीवनका स्वरूप ही ऐसा है कि उसके हरेक पहलूसे पराक्रमकी प्रेरणा मिलती है, रसके झरने झरते हैं पर जब मनुष्य विषयोका

आकण्ठ सेवन करता है और अर्थ-विहीन नीरस और आलस्यमय जीवन बिताता है, तब जीवन अपमानित होता है। फिर मनुष्यको कहीं चैन नही पड़ता। अगर कहीं ऐसा हो जाय कि मनुष्य जिस वस्तुकी इच्छा करता है, वह उसे इच्छा करते ही तुरन्त मिल जाया करे तब तो उसके लिए जीवन ही भार-रूप हो जाय। कालिदासके दुष्यन्तने बिलकुल ठीक ही कहा है कि इच्छाकी तृप्ति और प्रतिष्ठा जीवनकी सारी उत्सुकताको नष्ट कर देती है, और फिर, सिर्फ क्लेश ही क्लेश रह जाता है। ऐसे लोगोको चाहिए escape from life,—जीवनकी वास्तविकतासे दूर भागना और इसे वे कलामे ढूँढते हैं।

लेकिन, यह उन्हें कलामें मिला है या नहीं, इसका कालिदासने कोई उल्लेख नही किया। मुफ्तका खाना-पीना, नोकरोंको दौड़ाना और सारा समय शौकिया साहित्य पढना, संगीत सुनना, नाटक-सिनेमा देखना और सभा-सम्मेलनोंकी शोभा बढ़ाना,—इतना ही जिनका जीवन है उनके लिए कलाकी धार भी भोथरी हो जाती है,—किसी भी चीज़में उन्हे रस नहीं मिलता। ऐसे लोग शिष्ट व्याकुलता बतलाकर जब दीर्घ निःश्वास छोड़ते हैं तब उनपर तरस खाते भी त्रास होता है। उनके जीवनके आगे एक अँधेरी और भयानक दीवार ही खड़ी रहती है। जीवनसे भागनेके लिए कलाका आश्रय तो अवश्य लिया, लेकिन, वहाँ भी जीकी ऊब और अरुचि उनका पीछा नहीं छोडती। अब भागकर कहाँ जायँ ? अगर ठीक ठीक देखा जाय तो उन्हें यह जीवन-द्रोह छोड़कर यथार्थ जीवनमें ही प्रवेश करना चाहिए। सच्ची कला इसमें उनकी सहायक होगी। ऐसे सुकुमार लोगोके लिए साधन भी मै सुकुमार ही सुझाता हूँ। संगीत सुननेके बदले वे खुद गाना या बजाना सीख ले, नाच देखनेके बदले नृत्यमय व्यायाम करे, कीमती टिकट खरीदकर कलाकी प्रदर्शिनियाँ देखनेके बदले स्वयं चित्र बनाने लग जायँ और सुन्दर जिल्दोंवाली पुस्तके गोदमे रखकर निःश्वास छोडनेके बदले अपने सच्चे अनुभवोंको शब्दबद्ध करनेका यत्न करें, तो कला उनके लिए escape into life,—जीवनके आनन्दमे प्रवेश करानेवाली वस्तु बन जायगी। कोई भी आदमी जबतक जीवन-द्रोही बना रहेगा, तबतक कला उसका कैसे उद्धार कर सकती है ?

सच्ची कला जिस तरह आत्माका विकास साधती है, उसी तरह जीव-दया और करुणासे प्रेरित होकर की गई समाज-सेवा भी मनुष्यका आत्म-विकास करती है। कला और सेवाका साहचर्य सध जाय तो दोनोका उत्तरोत्तर विकास ही होता है। हमारे देशके लोगोने सभी कलाओंका भक्तिके साधनके रूपमे उपयोग करके उन्हे सेवा-परायण बना दिया है,—भोग-विलासको भी मन्दिरोके साथ जोडकर उसकी नग्नताको ढॅकनेका प्रयत्न किया है। कलायें सामाजिक धर्मके और व्यक्तिगत साधनके बडे महत्त्वके अंग मानी जाने लगी थी।

यह कहना मुश्किल है कि केवल कलाकी साधनासे किसीको आत्म साक्षात्कार हुआ है; पर, साधनाकी पूर्व तैयारीके रूपमे शुद्ध कलाकी बहुत-कुछ उपयोगिता है, इस बातसे कोई इनकार नही कर सकता। कलामे विनोद तो है ही, पर, यह तो उसका बाहरी लाभ हुआ। उसे कोई कलाका आखिरी प्रयोजन नही मानता। art as creative necessity,—अर्थात्, हरेक मनुष्यमे 'एकोऽहं बहु स्याम्'की,—एकसे बहुत बननेकी जो अदम्य वृत्ति है उसके संतोषके लिए मनुष्य जब हृदयके गूढ़ और उत्कट भावोको साकार रूप देनेके लिए प्रेरित होता है, तब उसके मनमे जो प्रयोजन होता है उसकी अधिक मीमासाकी आवश्यकता है।

जिस तरह कुछ लोग स्वतंत्रता-प्राप्तिके लिए या समाज-सेवाके लिए ब्रह्मचर्य-का जीवन पसंद करते है, उसी तरह कुछ कलाकार अपनी कलाका ही वरण करके अपना सारा समय, सारा ध्यान और सारी शक्ति उस कलाकी सेवामें ही लगा देते हैं। कलाकी सेवासे अलग किसी दूसरे जीवनकी उन्हे जरूरत नही होती। मनुष्यमे जो वीर्य है, वह किसी न किसी पुरुषार्थमे प्रकट होकर ही रहता है। कई लोगोको अपनी सारी शक्तिका रूपान्तर कलाकी अभिव्यक्तिमे ही करनेकी सूझती है। उनके लिए कलाकी उपासना पसंदगी-नापसंदगीका,—रुचि-अरुचिका विषय ही नहीं रहता। अगर तारे चमकना छोड़ सकें, कमल हॅसना छोड़ सकें, तो वे अपने जीवनके कला-प्रवाहको भी रोक सकते हैं। वे कलाका निर्माण नही करते, बल्कि, कला उनके द्वारा अपने आप प्रकट होती है। एक लडका रास्तेमें अपनी मस्तीमें सीटी बजाता जा रहा था। पुलिसने उसे रोककर पूछा, 'अरे, सीटी क्यो बजा रहा है?'

उसने अचरजकी निगाहसे उस शांति-रक्षककी तरफ देखकर कहा, 'कौन, मैं? मैं कहाँ बजा रहा हूँ, वह तो अपने आप बज रही है।'

इस तरहकी कलाको अगर हम अपौरुषेय कहें तो इसमें आपत्ति ही क्या है? इसीको यदि art for art's sake,—कलाके लिए कला कहा जाय तो किसको आपत्ति होगी?

परन्तु जिस समय भोग-विलासके लिए कलाका सेवन किया जाता है और इसी उद्देशसे कोई तडक-भडकदार नाम देकर, सदाचारका द्रोह करके, art for art's sake 'कलाके लिए कला'के सूत्रको पेश करता है तब आपत्ति उठती है। सच पूछा जाय तो अक्सर art for art's sake—यह सूत्र art for market's sake,—बाज़ारके लिए कला, art for vulgarity's sake,—अशिष्टताके लिए कला या art for dissipation's sake,—स्वेच्छाचारके लिए कला बन बैठता है। इसीसे इस सूत्रका इतना विरोध करना पडता है।

विज्ञापनोंके इस ज़मानेमें हरेक अच्छी और सुन्दर चीज़के लिए सस्ती, विकृत और श्रीहीन हो जानेका ख़तरा है। समाजके नेता लोक-जागृतिके लिए जिस जीवित भाषाका व्यवहार करते हैं वही चार-छः महीनेके अन्दर इश्तिहारोंमें पहुँच जाती है, और अपनी चीज़की ऐसी विडम्बना या भ्रष्टता हुई देखकर उन्हें लज्जित होकर बैठ जाना पड़ता है। 'फ्रूट सॉल्ट' (=फलोंका नमक) के विज्ञापनमें भी जिस तरह शेक्सपियरके वचन उद्धृत किये जाते हैं, उसी तरह अब हमारे यहाँ भी होने लगा है।

इसका इलाज सरकारके हाथमें नहीं है, मूल-लेखकके हाथमें भी नहीं है। सारे समाजको ही पवित्र वस्तुके इस अपवित्र उपयोगको रोकनेका जतन करना चाहिए।

इतना तो स्पष्ट है कि जहाँतक व्यक्तिगत, कौटुम्बिक और सामाजिक जीवनमें संस्कारिता, संयम और आर्यता या कुलीनता नहीं आई है वहाँतक सारा ज्ञान, सारी सत्ता और कलाका जीवन खतरेमें ही है। कलाकी शुद्धिकी रक्षाके लिए भी कलाकारोंको जीवन-शुद्धिका,—स्वच्छताका आग्रह रखना होगा। जीवन-शुद्धिकी बातें करके जीवनसे दूर भाग जानेका वैराग्य मैं नहीं बतला रहा हूँ; बल्कि जिससे छिछोरापन मिटकर जीवन समृद्ध होता है, अर्थपूर्ण और वीर्यवान् बनता

है, उसीकी बात मै कर रहा हूँ। जब ऐसा होगा तब escape from life की,—जीवनसे भागनेकी बात कोई नही करेगा। फिर तो art of life, art through life, art out of life की,—जीवनकी कला, जीवन-द्वारा कला और जीवनोद्भूत कलाकी ही बात विवेकपूर्वक होने लगेगी। फिर यह निरर्थक विवाद नहीं उठेगा।

Art for art's sake या केवल 'कलाके लिए कला'का आदर्श मैं समझ सकता हूँ और जिस अर्थमे मैं समझता हूँ उस अर्थमे उसके साथ मेरी सहानुभूति भी है। जीवन जिस तरह निष्काम वृत्तिसे ही कृतार्थ होता है उसी तरह कलासे। अगर हम बाजारू वृत्ति, धन या कीर्तिकी लालसा निकाल डाले, उपदेशका असंस्कारी तरीक़ा दूर कर दे—कलाको धर्मोपदेशको, धर्माचार्यों, राजपुरुषों और कल-कारखानोके मालिकोके हाथमे न जाने दे और कहे कि कला अपनी रक्षा आप ही कर सकती है,—तो वह art for art's sake हुई गिनी जाए। कलाद्वारा जीवनका सदाचार पुष्ट किया जा सकता है; कलाद्वारा धर्मकी सूक्ष्म वृत्तियाँ समझी और विकसित की जा सकती हैं; कलाद्वारा समाज-व्यवस्थामे सहयोग, समाधान, सामर्थ्य, समृद्धि और सुसंगतिका संगीत भरा जा सकता है,—अगर कलाके लिए हम इतना मिशन स्वीकार कर ले और उसकी अपनी अपील सार्वभौम बना डाले तो फिर art for art's sake कहनेमें कोई ऐतराज नहीं। अगर यही इसका अर्थ होता हो तो art for art's sake कहनेके लिए मैं तय्यार हूँ; मगर, कलाके विकासमें कलाकी अपेक्षा घटिया दर्जेका आदर्श न होना चाहिए। लेकिन, कोई यह कहे कि 'हम कला-रसिक हैं, कलाकार होनेका दावा करते हैं, कलाके नामसे लोगोको अपनी तरफ खीच सकते और फुसला सकते है, इसलिए हमारे बरतावपर या सर्जनपर सदाचार, धर्म, शिष्ट-संकेत, कानून, लोक-रूढि,—इनमेसे किसीका भी बन्धन न होना चाहिए', तो उनसे नम्रताके साथ कहना पडेगा कि आप मनके लड्डू खा रहे हैं,—आपके संसर्गसे समाज तो सुरक्षित है ही नहीं लेकिन, हम जानते हैं कि, कला भी सुरक्षित नहीं है।

यह तो अभी तक साबित नही हो सका है कि जिस पक्षको सफलता मिल गई है वही सत्पक्ष है और सफलतामें भी जो अंत तक सफल रहा है वही सफल माना जा सकता है। आदर्श कलामेंसे जो सबसे ऊँचा आनन्द मनुष्यको

मिलता है वही उसका हेतु है, इस कारण भी ' कलाके लिए कला ' वाली बात कही जा सकती है। सर्वोच्च आनन्दका स्वाद जिसने चख लिया, उसके लिए सदाचार स्वाभाविक या सहज बन जाता है। ऐसे प्रसंगपर हम कह सकते हैं कि कलाका मुख्य प्रयोजन तो कलाका ब्रह्मानंद-सहोदर आनन्द ही है। सदाचार और सामाजिक सामर्थ्य,—ये उसके अवश्यंभावी गौणफल (= bye-products) हैं। इस अर्थमें कोई ' कलाके लिए कला ' formula के साथ नहीं है। परिणाम देखकर ही हम परीक्षा करेंगे। शुद्ध कलाके द्वारा अगर हमे जीवनके सभी रस मिलते रहे तो जीवनके गिरनेका कोई डर नहीं रहता। बिगाड तो तभी होता है जब रसके नामपर हम दूसरी चीज़ें खोजने लगते हैं। अगर हम इस बातकी मीमांसा कर सकें कि सच्चे रस कितने और कैसे होते हैं तो हमें इस बातकी चिन्ता न करनी पड़े कि कलामें सदाचारकी रक्षा होती है या नहीं। पुराने लोगोंने आठ, नौ और दस तक रस गिनाये हैं। हमें इन नवों रसोंकी नये ढंगसे मीमांसा करनी चाहिए*।

---

* देखिए, आगे ' रसोंका संस्कार ' शीर्षक लेख।

कहानी

एक आलोचकने लिखा है कि इतिहासमें सब-कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है, और कथा-साहित्यमें सब-कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है।

इस कथनका आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि इतिहास आदिसे अन्ततक हत्या, संग्राम और धोखेका ही प्रदर्शन है, जो असुन्दर है इसलिए असत्य है। लोभकी क्रूरसे क्रूर, अहंकारकी नीचसे नीच, ईर्ष्याकी अधमसे अधम घटनाएँ आपको वहाँ मिलेंगी, और आप सोचने लगेंगे, 'मनुष्य इतना अमानुष है! थोड़ेसे स्वार्थके लिए भाई भाईकी हत्या कर डालता है, बेटा बापकी हत्या कर डालता है और राजा असंख्य प्रजाओंकी हत्या कर डालता है!' उसे पढ़कर मनमें ग्लानि होती है आनन्द नहीं, और जो वस्तु आनन्द नहीं प्रदान कर सकती वह सुन्दर नहीं हो सकती, और जो सुन्दर नहीं हो सकती वह सत्य भी नहीं हो सकती। जहाँ आनन्द है वहीं सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना, और इसलिए वह सत्य है।

मनुष्यने जगत्में जो कुछ सत्य और सुन्दर पाया है और पा रहा है उसीको साहित्य कहते हैं, और कहानी भी साहित्य का एक भाग है।

मनुष्य-जातिके लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझमें नहीं आता। किसी न किसी रूपमें वह अपनी ही आलोचना किया करता है,—अपने ही मनोरहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृतिका विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपनेको समझे। अध्यात्म और दर्शनकी भाँति साहित्य भी इसी सत्यकी खोजमें लगा हुआ है,—अन्तर इतना ही है कि वह इस उद्योगमें रसका मिश्रण करके उसे आनन्द-प्रद बना देता है, इसीलिए, अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियोंके लिए है, साहित्य मनुष्य-मात्रके लिए।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कहानी या आख्यायिका साहित्यका एक प्रधान अंग है। आजसे नहीं, आदि कालसे ही। हाँ, आजकलकी आख्यायिका और प्राचीन कालकी आख्यायिकामे, समयकी गति और रुचिके परिवर्तनसे, बहुत कुछ अन्तर हो गया है। प्राचीन आख्यायिका कुतूहल-प्रधान थी या अध्यात्म-विषयक। उपनिषद् और महाभारतमें आध्यात्मिक रहस्योंको समझानेके लिए आख्यायिकाओंका आश्रय लिया गया है। बौद्ध जातक भी आख्यायिका के सिवा और क्या है? बाइबिलमे भी दृष्टान्तों और आख्यायिकाओंके द्वारा धर्मके तत्त्व समझाये गये हैं।—सत्य इस रूपमें आकर साकार हो जाता है और तभी जनता उसे समझती है और उसका व्यवहार करती है।

वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवनके यथार्थ और स्वाभाविक चित्रणको अपना ध्येय समझती है। उसमे कल्पनाकी मात्रा कम, अनुभूतियोंकी मात्रा अधिक होती है। इतना ही नहीं, बल्कि, अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावनासे अनुरंजित होकर कहानी बन जाती है।

मगर, यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवनका यथार्थ चित्र है। यथार्थ-जीवनका चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है; मगर कहानी के पात्रोंके सुख-दुःखसे हम जितना प्रभावित होते है उतना यथार्थ जीवनसे नहीं होते,—जब तक कि वह निजत्वकी परिधिमे न आ जाय। कहानियोंके पात्रोंसे हमे एक ही दो मिनटके परिचयमें निजत्व हो जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है, इतना ही नहीं, बल्कि, कहानी पढ़कर वह लोग भी रोते या हँसते देखे जाते हैं जिन पर साधारणतः सुख-दुःखका कोई असर नहीं पड़ता, जिनकी आँखें श्मशान मे या क़ब्रिस्तानमे भी सजल नहीं होतीं। वे लोग भी उपन्यासके मर्मस्पर्शी स्थलोंपर पहुँचकर रोने लगते हैं।

शायद, इसका यह कारण भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मनके उतने समीप नहीं पहुँच सकते जितने कि कथाके सूक्ष्म चरित्रके। कथाके चरित्रों और मनके बीचमें जड़ताका वह पर्दा नहीं होता जो एक मनुष्यके हृदयको दूसरे मनुष्यके हृदयसे दूर रखता है। और अगर हम यथार्थको हूबहू खींचकर रख दें, तो उसमे कला कहाँ है? कला केवल यथार्थकी नकलका नाम नहीं है।

कला दीखती तो यथार्थ है, पर, यथार्थ होती नही। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका माप-दंड भी जीवनके माप-दंडसे अलग है। जीवनमें बहुधा हमारा अन्त उस समय हो जाता है जब वह वाञ्छनीय नही होता। जीवन किसीका दायी नही है; उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरणमे कोई क्रम,—कोई सम्बन्ध नही ज्ञात होता,—कमसे कम मनुष्यके लिए वह अज्ञेय है। लेकिन, कथा-साहित्य मनुष्यका रचा हुआ जगत् है, और परिमित होनेके कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है, और जहाँ वह हमारी मानवी न्याय-बुद्धि या अनुभूतिका अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है, हम उसे दण्ड देनेके लिए तैयार हो जाते हैं। कथामे अगर किसीको सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा, दुःख भी मिलता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता जब तक कि मानव-न्याय-बुद्धि उसकी मौत न माँगे। स्रष्टाको जनताकी अदालतमे अपनी हरएक कृतिके लिए जवाब देना पडेगा। कलाका रहस्य भ्रान्ति है, पर, वह भ्रान्ति जिस पर यथार्थ का आवरण पडा हो।

हमे यह स्वीकार कर लेनेमें संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासोंहीकी तरह आख्यायिकाकी कला भी हमने पश्चिमसे ली है,—कमसे कम इसका आजका विकसित रूप तो पच्छिमका है ही। अनेक कारणोंसे जीवनकी अन्य धाराओंकी तरह ही साहित्यमे भी हमारी प्रगति रुक गई और हमने प्राचीनसे जौ-भर इधर-उधर हटना भी निषिद्ध समझ लिया। साहित्यके लिए प्राचीनोंने जो मर्यादायें बाँध दी थी उनका उल्लङ्घन करना वर्जित था, अतएव, काव्य, नाटक, कथा,—किसीमें भी हम आगे कदम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है जब तक कि उसमे कुछ नवीनता न लाई जाय। एक ही तरहके नाटक, एक ही तरहके काव्य पढते पढते आदमी ऊब जाता है और वह कोई नई चीज़ चाहता है,—चाहे वह उतनी सुन्दर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ या तो यह इच्छा उठी ही नही, या हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गई। पश्चिम प्रगति करता रहा,—उसे नवीनताकी भूख थी और मर्यादाकी बेड़ियोंसे चिढ़। जीवनके हरएक विभागमें

उसकी इस अस्थिरताकी, असन्तोषकी बेड़ियोंसे मुक्त हो जानेकी छाप लगी हुई है। साहित्यमे भी उसने क्रान्ति मचा दी।

शेक्सपियरके नाटक अनुपम हैं; पर, आज उन नाटकोंका जनताके जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं। आजके नाटकका उद्देश्य कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा-साहित्यमे भी विकास हुआ और उसके विषयमे चाहे उतना बड़ा परिवर्त्तन न हुआ हो पर शैली तो बिलकुल ही बदल गई। अलिफलैला उस वक्तका आदर्श था,—उसमे बहुरूपता थी, वैचित्र्य था, कुतूहल था, रोमान्स था;—पर, उसमे जीवनकी समस्यायें न थीं, मनोविज्ञानके रहस्य न थे, अनुभूतियोंकी इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्यरूपमे इतना स्पष्ट न था। उसका रूपान्तर हुआ और उपन्यासका उदय हुआ जो कथा और नाटकके बीचकी वस्तु है। पुराने दृष्टान्त भी रूपान्तरित होकर कहानी बन गये।

मगर सौ बरस पहले यूरोप भी इस कलासे अनभिज्ञ था। बड़े बड़े उच्च-कोटिके दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे जाते थे, लेकिन, छोटी छोटी कहानियोंकी ओर किसीका ध्यान न जाता था। हाँ परियों और भूतों की कहानियाँ लिखी जाती थीं, किन्तु, इसी एक शताब्दीके अन्दर, या उससे भी कममे समझिए, छोटी कहानियोंने साहित्यके और सभी अङ्गोंपर विजय प्राप्त कर ली है, और यह कहना ग़लत न होगा कि जैसे किसी ज़मानेमे काव्य ही साहित्यिक अभिव्यक्तिका व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है। और उसे वह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोपके न जाने कितने महान् कलाकारोंकी प्रतिभासे, जिनमे बालज़क, मोपाँसाँ, चेख़ाफ़, टालस्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि मुख्य हैं। हिन्दीमें पच्चीस-तीस साल पहले तक कहानीका जन्म न हुआ था। परन्तु, आज तो कोई ऐसी पत्रिका नहीं जिसमे दो-चार कहानियाँ न हों,—यहाँ तक कि कई पत्रिकाओंमे केवल कहानियाँ दी जाती है।

कहानियोंके इस प्राबल्यका मुख्य कारण आजकलका जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह ज़माना नहीं रहा कि हम 'बोस्तानेख़याल' लेकर बैठ जायँ और सारे दिन उसीकी कुंजोंमें विहरते रहें। अब तो हम जीवन-संग्राममें इतने तन्मय हो गये हैं कि हमें मनोरंजनके लिए समय ही नहीं मिलता;

अगर, कुछ मनोरंजन स्वास्थ्यके लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए विना नित्य अट्ठारह घण्टे काम कर सकते, तो शायद हम मनोरंजनका नाम भी न लेते। लेकिन प्रकृतिने हमे विवश कर दिया है; हम चाहते हैं कि थोडेसे थोडे समयमें अधिकसे अधिक मनोरंजन हो जाय, —इसीलिए, सिनेमा-गृहोंकी संख्या दिन दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यासके पढ़नेमे महीनो लगते, उसका आनन्द हम दो घण्टोमे उठा लेते हैं। कहानीके लिए पन्द्रह-बीस मिनट ही काफी हैं; अतएव हम कहानी ऐसी चाहते है कि जो थोड़ेसे थोड़े शब्दोमे कही जाय, उसमे एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पावे; उसका पहला ही वाक्य मनको आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किये रहे, और उसमे कुछ चटपटापन हो, कुछ ताज़गी हो; कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हो। तत्त्व-हीन कहानीसे मनोरंजन भले ही हो जाय, पर मानसिक तृप्ति नही होती। यह सच है कि हम कहानियोमे उपदेश नहीं चाहते, लेकिन, विचारोको उत्तेजित करनेके लिए, मनके सुन्दर भावोको जाग्रत् करनेके लिए, कुछ न कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है जिसमे इन दोनोमेंसे,—मनोरंजन और मानसिक तृप्तिमेसे एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्यपर हो। साधु पिताका अपने कुव्यसनी पुत्रकी दशासे दुखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेगमें पिताके मनोवेगोको चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारोको प्रदर्शित करना कहानीको आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं न कहीं देवता अवश्य छिपा होता है: यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवताको खोलकर दिखा देना सफल आख्या-यिका-लेखकका काम है। विपत्तिपर विपत्ति पडनेसे मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है,—यहाँ तक कि वह बड़ेसे बडे संकटका सामना करनेके लिए ताल ठोंक तैयार-हो जाता है, उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है, उसके हृदयके किसी गुप्त स्थानमें छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं;—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न भिन्न प्रकृतिके मनुष्यो को भिन्न भिन्न रूपसे प्रभावित करती है,—हम कहानीमे इसको सफलताके साथ

दिखा सकें, तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्याका समावेश कहानीको आकर्षक बनानेका सबसे उत्तम साधन है। जीवनमें ऐसी समस्यायें नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होनेवाला द्वन्द्व आख्यायिकाको चमका देता है। सत्यवादी पिताको मालूम होता है कि उसके पुत्रने हत्या की है। वह उसे न्यायकी वेदीपर बलिदान कर दे, या अपने जीवन-सिद्धान्तोंकी हत्या कर डाले? कितना भीषण द्वन्द्व है! पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वोंका अखण्ड स्रोत है। एक भाईने अपने दूसरे भाईकी सम्पत्ति छल-कपटसे अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा माँगते देखकर क्या छली भाईको जरा भी पश्चात्ताप न होगा? अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासोंकी भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानीका पद ऊँचा समझा जाता है, मगर कहानीमें बहुत विस्तृत विश्लेषणकी गुञ्जायश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्यको चित्रित करना नहीं, वरन्, उसके चरित्रका एक अंग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानीसे जो परिणाम या तत्त्व निकले वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमे उसी बातमें कुछ आनन्द आता है जिससे हमारा कुछ सम्बन्ध हो। जुआ खेलने-वालोंको जो उन्माद और उल्लास होता है वह दर्शकको कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक अपनेको उनके स्थानपर समझ लेता है, तभी उस कहानीमे आनन्द प्राप्त होता है। अगर लेखकने अपने पात्रोंके प्रति पाठकमे यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी, तो वह अपने उद्देशमें असफल है।

पाठकोंसे यह कहनेकी जरूरत नहीं है कि इन थोड़े ही दिनोंमें हिन्दी-कहानी-कलाने कितनी प्रौढता प्राप्त कर ली है। पहले हमारे सामने केवल बँगला. कहानियोंका नमूना था। अब हम संसारके सभी प्रमुख कहानी-लेखकोंकी रचनाएँ पढ़ते हैं, उनपर विचार और बहस करते हैं, उनके गुण-दोष निकालते हैं, और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अब हिन्दी-कहानी-लेखकोंमें विषय, दृष्टिकोण और शैलीका अलग अलग विकास होने लगा है,—कहानी जीवनके बहुत निकट आ गई है। उसकी ज़मीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी

नही है। उसमे कई रसो, कई चरित्रो और कई घटनाओके लिए स्थान नही रहा। वह अब केवल एक प्रसंगका, आत्माकी एक झलकका, सजीव हृदय-स्पर्शी चित्रण है। इस एकतथ्यताने उसमे प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। अब उसमें व्याख्याका अंश कम, संवेदनाका अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रवाहमयी हो गई है। लेखकको जो कुछ कहना है, वह कमसे कम शब्दोमे कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रोके मनोभावोकी व्याख्या करने नही बैठता, केवल उसकी तरफ इशारा कर देता है। कभी कभी तो संभाषणोमे एक-दो शब्दोसे ही काम निकाल देता है। ऐसे कितने ही अवसर होते है जब पात्रके मुँहसे एक शब्द सुनकर हम उसके मनोभावोका पूरा अनुमान कर लेते है,—पूरे वाक्यकी जरूरत ही नही रहती। अब हम कहानीका मूल्य उसके घटना-विन्याससे नही लगाते,—हम चाहते है, पात्रोंकी मनोगति स्वयं घटनाओकी सृष्टि करे। घटनाओका स्वतंत्र कोई महत्त्व ही नहीं रहा। उनका महत्त्व केवल पात्रोके मनोभावोको व्यक्त करनेकी दृष्टिसे ही है,—उसी तरह जैसे शालिग्राम स्वतंत्ररूपसे केवल पत्थरका एक गोल टुकड़ा है, लेकिन उपासककी श्रद्धामें प्रतिष्ठित होकर देवता बन जाता है।--खुलासा यह कि कहानीका आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नही बैठ जाता। उसका उद्देश स्थूल सौन्दर्य नहीं है। वह कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौन्दर्यकी झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठककी सुन्दर भावनाओको स्पर्श कर सके।



कहानीकी कहानी

गल्प-रचनाकी विद्याका प्रारम्भ कब हुआ ? किसने किया ? किस तरह किया ? यह सब ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर संसारके इतिहाससे मिलना असम्भव है। परन्तु गल्पके प्रारम्भके विषयमें विश्वस्त रूपसे कहा जा सकता है, कि विद्याध्ययन और मनोरंजनकी यह मोहिनी सामग्री उतनी ही पुरानी है, जितनी यह दुनिया। रिचर्ड बर्टन साहबने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'मास्टर्स ऑफ दि इंग्लिश नॉवेल'मे लिखा है कि "कहानी दुनियाकी सबसे प्यारी वस्तु है, इसलिए आश्चर्य नहीं कि इसका श्रीगणेश उस समय हुआ हो जब आदमीने घुटनो के बल खड़ा होना सीखा।" मगर मेरी सम्मतिमे कहानीका प्रारम्भ उस समय हुआ, जब दुनियाके पहले पुत्रने पहली बार ज्ञानकी आँख खोली, सूरजके नीचे किसी सुन्दर और रमणीय दृश्यको लोभकी दृष्टिसे देखा और उसे अपने मनोमन्दिरकी चित्र-शालामे सुरक्षित किया। उस समय प्रकृतिने अभी उसके होठोसे चुपकी मोहर न तोडी थी, न उसे कोई ऐसी विधि मालूम थी, कि अपने भावोको दूसरोंपर प्रकट कर सके। वह केवल चुपकी आँखसे देखता था, और चुपके मनसे सोचता था। इसके बाद मिस्टर मार्विनके वचनानुसार उसने अपने आसपासकी चीज़ोंकी नक़ल उतारनी शुरू की, और वृक्षोंके तनोंपर और चट्टानोंके खुरदरे पत्थरोंपर वह चित्र बनाने लगा। इन चित्रोमे कला न थी, न आज-कलका सौन्दर्य था। साँप और न्योलेकी लड़ाई, शेर और हाथियोका शिकार, देवी-देवताओंकी पूजाके सिवाय उनमें और कुछ भी न था। साधारण आदमियोके लिए यह प्रारम्भ अत्यन्त तुच्छ और निःसार है, मगर यही तुच्छ और निःसार प्रारम्भ है जिसने आज अपना विकास करके ऑनरे बालज़ाक, गी द मपासाँ, सेन कोई विज़, अनातोल फ्रांस, लिओ टालस्टाय और चैखोफका नाम साहित्य-संसारमें अमर कर दिया है। यह वही परमाणु

है जो आज सूरज बनकर चमक रहा है। यह वही छोटा-सा बीज है जो आज एक विशाल-काय और घने वृक्षका मनोहर रूप धारण कर चुका है, और दोपहरकी हत्यारी गरमीके मारे हुए मुसाफिरोंके लिए सुख, विश्राम और जीवनका जीता-जागता संदेशा बनकर खडा है।

मानव-प्रकृति परिवर्तन-प्रिय है। आदमी एक ही वस्तुको एक ही रंग-रूपमे देख देखकर ऊब जाता है। वह वृक्षों और पत्थरोंपर युद्ध, शिकार, पूजाके चित्र देखते देखते तंग आ गया और अपने मनोरंजनके लिए किसी और वस्तुकी खोज करने लगा। उधर इस बीचमें उसकी वाक्-शक्तिका विकास हो गया, और उसने शूरवीरों, भयंकर जीव-जन्तुओं, और प्रकृतिकी अमर देवियोंके गीत बनाने शुरू कर दिये—कहानी गीतोंके पालनेमे झूलने लगी।

बालपनकी आयु समाप्त करके यह होनहार बच्चा गीतोंके पालनेसे उतरा, और अपने पाँवपर चलने लगा। कभी गिरता था, कभी ठोकरें खाता था, कभी उसका कपड़ा काँटोंकी झाडियोंमें उलझ जाता था। मगर यह बहादुर मन-चला इन रुकावटोंकी ज़रा परवा न करता था और बराबर आगे बढ़ता जाता था। बाल-यात्रामें उसे सबसे पहले एक चमन दिखाई दिया। बच्चा था, ललचा गया और कुछ दिन यहीं टिका रहा। फल-फूल खाता था, तोते मैना, और हिरणोंसे बातचीत करता था, और नदीके किनारे बैठा चैनकी बाँसुरी बजाता था। इसके बाद एक जादूके शहरमे जा फँसा। वहाँसे छूटा, तो जोबन और सुन्दरताकी कुंज-गलियों का चसका पड गया। कुछ ज़माना इन आहों और गुनाहोंमें कटा और इसके बाद ज्ञान-चक्षु खुल गये। ख्याल आया, मैं कितना मूर्ख हूँ, कि जोबनके लोभमें घर-बार सब कुछ बिसार बैठा, मुझे दुनिया क्या कहेगी! यह ख्याल आना था, कि महात्माजी वापिस लौटे, और चुपकेसे घरका द्वार खोलकर गार्हस्थ्य-जीवनमें प्रविष्ट हो गये। आज उसके हृदयसागरमें विषय और वासनाकी प्राण-घातक लहरे नहीं उठतीं, न चिडियों, कौवोंको देखकर बाल-कालकी अधीर भावनायें सिर उठाती है। अब वह अपना मंतव्य और कर्तव्य समझनेवाला गृहस्थी है, जिसकी सारी मनोवृत्तियाँ घरके लिए हैं। वह घरसे बाहर भी जाता है, हँसता भी है, गाता भी है, कभी कभी पुराने

पापी मित्रोंकी चण्डाल-चौकड़ीमें भी चला जाता है, परन्तु उसके मनका तार घरहीमें बजता है।

या सीधे-सादे शब्दोंमें हम यों कहेंगे, कहानीका पहला युग वह था, जब रातको बच्चे घरके आँगनमें खेलते थे, या बुड्ढे आग तापते थे, और जंगली जीव-जन्तुओंकी कहानियाँ सुनते सुनाते थे। मालूम होता है, पंच-तन्त्र और ईसपकी कहानियाँ उसी आदि-कालकी बची-खुची यादगारे है। इनमे लालित्य हो या न हो, मगर वे सदुपदेशके मोतियोंसे भरी पड़ी हैं। इसके बाद जादूका युग आया। लोग अद्भुत और चक्करदार कहानियाँ माँगने लगे, जैसे अलिफ़ लैला, चहार दरवेश, तिलिस्म-होशरुबाकी कहानियाँ हैं। इनमें मनोरंजन और माधुरी है, परन्तु दुनिया और दुनियाके नियमोंसे परे हैं। वे कहानियाँ हमारे लोककी नहीं, किसी और लोककी हैं, जिसे हमने न देखा है, न कभी देखनेकी सम्भावना है। वहाँ कभी कबूतर देखते देखते नौजवान राजकुमार बन जाते हैं, कभी क्षण-भरमें विशाल भवन खड़े हो जाते हैं। कभी कटे हुए सिर हँसते है, कभी मृतक शरीर घोड़ोंपर चढ़कर युद्ध करते हैं। ये कहानियाँ पाठकको चकित कर देती हैं। वह डर जाता है। वह तन्मय हो जाता है। वह खाने-पीनेकी सुध भूल जाता है। परन्तु कहानीकी समाप्तिपर वह स्वयं अनुभव करता है कि मैंने कुछ पढ़ा नहीं, समय नष्ट किया है। फिर तीसरा युग आरम्भ हुआ और प्रेम और सौन्दर्यकी कहानियाँ शुरू हुईं। उनमें चन्द्रमाकी नृत्यमयी चाँदनी, फूलोंकी मद-भरी गंध, और श्यामाका रोमाचक संगीत है। उनमें काव्य है, उनमें कला है, उनमें कल्पना है, और सबसे बढकर यह कि उनमें मानव-हृदय और मानव-भावकी व्याख्या है। परन्तु उनमें एक बुराई है, दुनिया इस तरहके रोमांचसे ऊपर नहीं उठती, नीचे गिरती है। यहाँ यूरोप और भारतमें मत-भेद है। यूरोप कहता है, एक घटना सुन्दरतासे वर्णन कर दो, पाठक ऊँचा उठता है, या उसका आचार भ्रष्ट होता है, इससे हमें कोई सरोकार नहीं। भारत कहता है, वह रचना रचना ही नहीं, जो संसारको ऊँचा न उठाये। परन्तु इस विषयमें दोनो सहमत हैं कि कहानीमें खुला उपदेश न हो। कहानीसे उपदेश मिल जाय, यह दूसरी बात है, परन्तु उसमें प्रकट-रूपसे उपदेश न दिया जाय। प्रकट रूपसे उपदेश आया, और कहानी कला-हीन हुई। वह उपदेश है,

वह व्याख्यान है, परन्तु कहानी नहीं। अब कहानीका जो नवीन युग शुरू हुआ है, वह घरके साधारण जीवन-वर्णनकी कहानियोंका युग है। वर्तमान समयका सर्व-श्रेष्ठ गल्प-लेखक वह है, जो जीवनका चित्र खींचकर रख दे। माँ-पुत्र बैठते हैं, तो क्या क्या बातें करते हैं? पति-पत्नीमें मन-मुटाव हो जाता है, तो उनके दिलमें क्या क्या विचार आते हैं? वह किस तरह सुलह-सफाई करना चाहते हैं, मगर झूठी लाज उनकी जीभ पकड़ लेती है। वृद्धावस्थामें बीते हुए यौवन-कालकी स्मृति किस तरह आदमीके दिलको उदास कर देती है, उसकी आँखें किस तरह सजल हो जाती हैं! माता और पिताकी, बेटी और बेटेकी, बहन और भाईकी मुहब्बतमें कितना अन्तर है! नव-युवती और बुड्ढी स्त्रीके विचारोंमें कैसा भेद होता है? ये सब ऐसी बातें हैं, जो वर्तमान युगके गल्प-लेखककी सामग्री हैं। बाज़ारकी सैरसे हृदय-कमल खिल जाता है, परन्तु जो स्वर्गीय सुख, जो आध्यात्मिक आनन्द घरके आँगनमें है, वह बाहर कहाँ? जंगलका स्वाधीन पंछी फूलकी टहनियोंपर बैठकर कैसा चहचहाता है! उसे सुनील विस्तृत आकाशमें उड़ते देखकर हमारे दिलमें भी भावोंकी बाढ़ आ जाती है। परन्तु उसके मनकी सच्ची और स्वाभाविक प्रसन्नता देखनी हो, तो उस समय देखो, जब वह अपने परोंको समेटकर और मद-भरी आँखोंको आधा बन्द करके, आधा खोलके अपने घोंसलेमें बैठा हो, और उसे इस बातकी कोई चिन्ता न हो कि बाहर क्या हो रहा है। परन्तु इसके लिए दिलकी आँख, और आँखके दिल दोनोंकी ज़रूरत है। सर्वसाधारणकी दृष्टिमें यह एक ऐसा दृश्य है, जिसमें कोई आकर्षण, कोई गौरव नहीं। जैसे राग-विद्यासे अनभिज्ञ आदमीको पक्के रागमें मज़ा नहीं आता।

इसलिए वर्तमान युगका कहानी-लेखक बाहरका कहानी-लेखक नहीं, अन्दरका कहानी-लेखक है। दुनियाको देखनेवाले बहुत हो चुके हैं, अब दिल और घरको देखनेवालोंकी ज़रूरत है। बाहर क्या हो रहा है और किस तरह हो रहा है, यह हर कोई देखता है। मगर घर और दिलके अन्दर क्या हो रहा है, वहाँ प्रवेश करना, उन्हें देखना, और फिर जो कुछ वहाँ दिखाई दे, उसे दुनियाके सामने रखना आसान नहीं। और यही समस्या है, जिसे हल करनेके लिए बीसवीं सदीका कहानी-लेखक साहित्य-क्षेत्रमें उतरा है।

यह कहानीके विकास और विस्तारकी संक्षिप्त कहानी है। मगर गल्प रचनाकी विद्या कब शुरू हुई, और इसे किसने शुरू किया, यह कहना कठिन है। भिन्न भिन्न देशोकी भिन्न भिन्न कहानियाँ पढने और कई साल तक सोच-विचार करनेके बाद मैं इस परिणामपर पहुँचा हूँ कि ज़मीनकी घासके समान गल्प-रचनाकी विद्या भी हरएक देशमे आपसे आप उत्पन्न हुई है, मगर अगुआ होनेका सेहरा भारतवर्षके सिर है। क्योकि सभ्यताने सबसे पहले इसी पुण्य-भूमिमे आँख खोली थी। अन्धकार और अविद्याके उस ज़मानेमे जब कि सारा संसार अशिक्षित था, प्राचीन आर्योकी इस प्राचीन भूमिमे ज्ञानकी गङ्गा बहती थी। जब सारी दुनिया सभ्यतासे शून्य थी, भारत अभ्युदय और उन्नतिकी कठिन मंज़िलें तै कर चुका था। यहाँ तक कि कहानियोंके मामलेमें भी हम वहाँ पहुँच चुके थे, जो आज रूस और फ्रास और स्कैंडिनेवियाका आदर्श है।

साहित्य-कलाकी दृष्टिसे इस समय संसारमें फ्रास, स्कैंडिनेविया और रूस सबसे आगे हैं, और जहाँ तक उपन्यास , कहानी और नाटकका सम्बन्ध है, रूस सबसे आगे निकल गया है। वहाँ आज-कल छोटी छोटी कहानियोकी एक नई प्रथा चली है। उनमे एक इशारा, एक शिक्षा, एक कसक होती है। आदमी पढता है, और समझता है, और उछल पड़ता है। शब्द थोडे होते हैं, मगर लेखक अपना अभीष्ट कुछ इस तरह कह जाता है, कि पढनेवालेके दिलमे एक चिनगारी रोशन हो जाती है। उदाहरणार्थ यह कहानी देखिए, जो रूसके एक सुप्रसिद्ध कहानी-लेखकने लिखी है—

"देवताओंका फैसला

(१)

प्रातःकाल बादशाह उठा, और उसने आज्ञा दी कि दरवाज़ेके भिक्षुओंको सम्मानसे हमारे सामने पेश किया जाये।

उस रात उसने एक अनुपम सपना देखा था, और उसकी याद अभी तक उसकी आँखोमें चमक रही थी। इसलिए उसने उन भिक्षुकोको कृपादृष्टिसे देखा, और उनमेसे हर एकको सोनेकी एक एक सौ मोहरें दान दीं।

सारे शहरमे जयजयकार होने लगा।

उसी शहरमे एक ग़रीब जाट रहता था, जिसे दिन-रातके परिश्रमके बाद केवल खाने-पीनेको ही प्राप्त होता था।

दोपहरके समय जाटने अपनी स्त्रीसे कहा, "मेरा भाई मर गया है। अब उसके अनाथ बच्चेको भी हमे पालना होगा।"

मगर जाटकी स्त्रीने कहा, "हम ग़रीब हैं। हमे बहुत तङ्गीसे दोनो समय खाना ही मिलता है।"

जाटने उत्तर दिया, "कोई चिन्ता नहीं। हम थोडा थोड़ा करके तीनो खा लेंगे।"

रातको जब आकाशपर देवताओंकी सभा हुई, और दिनका हिसाब-किताब पेश हुआ, तो उन्होंने निर्णय किया कि जाटके दानके सामने बादशाहके दानका जरा भी महत्त्व नहीं है।"

इस कहानीको यूरोपने बेहद पसन्द किया है। उच्च कोटिकी पत्रिकाओंने लिखा है, बस यह कलाकी पराकाष्ठा है, अब इससे परे कोई क्या जायगा? और वास्तवमे यह कहानी सर्वाङ्गसुन्दर और सर्वगुणसम्पन्न है। इसे पढ़कर कला भी सिर धुनने लग जाती है। मगर यह चीज दुनियामे पहली बार प्रकट हुई है, यह ग़लत है। महाभारतमे एक कहानी आती है—

"सोनेका न्योला

अश्वमेध-यज्ञकी समाप्तिपर जब महाराज युधिष्ठिरने अपने ख़ज़ाने ख़ाली कर दिये और ब्राह्मणोंको विदाका भोजन कराया, तो एक न्योला आकर रसोईमे लेट गया। उसका आधा शरीर सोनेका था।

थोडी देर बाद वह निराश होकर उठा, और क्रोधसे बोला—यह यज्ञ भी ठीक न हुआ।

ब्राह्मणोंको आश्चर्य्य हुआ।

न्योला बोला—"कई वर्ष बीते, भारतके एक प्रान्तमे अकाल पड़ा, और लोग भूखो मरने लगे। एक ब्राह्मणको बडे परिश्रमसे कुछ जौ मिले और उसने पीसकर सत्तू बनाये। ब्राह्मण, उसकी स्त्री, उसका पुत्र, और पुत्र-वधू सब

खुश थे, क्योंकि उनको यह अन्न क़ई दिन भूखा रहनेके बाद मिला था। इतनेमें एक अतिथिने द्वारपर आकर आवाज़ दी और कहा—'मैं भूखा हूँ।' ”

ब्राह्मणीने उसे अपना भाग दे दिया, परन्तु अतिथिका पेट न भरा।

इसके बाद ब्राह्मणने अपने भागके सत्तू दे दिये, परन्तु अतिथि अब भी भूखा था।

इसपर ब्राह्मणके पुत्र, और पुत्र-वधूने अपने अपने सत्तू भी दे दिये, और अतिथि उनको आशीर्वाद देता हुआ चला गया।

दूसरे दिन वहाँ चार लाशें पड़ी थी।

सत्तुओंकी गंध पाकर मै वहाँ चला गया। कुछ सत्तू रसोईमें बिखरे हुए थे। मै वहाँ लेट गया; और यह देखकर मुझे कैसा अचरज हुआ, कि मेरी देहको जहाँ जहाँ सत्तू लगे, वह सोनेकी बन गई। अब मै हर यज्ञमें जाता हूँ, और उसके रसोई-घरमें लेटता हूँ, कि शायद मेरी बाक़ी देह भी सोनेकी बन जाय। मगर मेरी मनोकामना पूरी नहीं होती।”

पाठक देखें, वही भाव है, वही लिखनेका ढँग, वही इशारा, वही कसक, वही छिपी हुई शिक्षा। बल्कि महाभारतकी कहानी कलाकी दृष्टिसे अधिक सुरोचक है। और यह आजसे कई हज़ार वर्ष पहलेकी बात है। गोया जहाँ रूस आज पहुँचा है, और जिस पर उसे बधाइयाँ दी जा रही हैं, वहाँ हम कई हज़ार वर्ष पहले पहुँच चुके हैं, और इतना ही नहीं, उपनिषदोंकी कहानियाँ इससे भी उच्च कोटिकी हैं। मगर भारतवर्षका दुर्भाग्य देखिए, आज हम ऐसी कला-पूर्ण कहानियोंको समझ भी नहीं सकते, न हमें उनमे कोई काव्य, कोई कला, कोई गुण दिखाई देता है। सम्भव है, फ़ास और रूसके मोती देखकर हमें भी अपने फेंके हुए जवाहरात का ध्यान आ जाए।

उपन्यास

उपन्यासकी परिभाषा विद्वानोंने कई प्रकारसे की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज़ जितनी ही सरल होती है उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविताकी परिभाषा आज तक नही हो सकी। जितने विद्वान् हैं उतनी परिभाषायें हैं। किन्हीं दो विद्वानोंकी रायें नही मिलतीं। उपन्यासके विषयमे भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों।

मैं उपन्यासको मानव-चरित्रका चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्योको खोलना ही उपन्यासका मूलतत्त्व है।

किन्हीं भी दो आदमियोकी सूरतें नही मिलतीं, उसी भाँति आदमियोके चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियोके हाथ, पाँव, आँखे, कान, नाक, मुँह होते हैं,—पर इतनी समानता पर भी जिस तरह उनमे विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति सब आदमियोके चरित्रोमे भी बहुत-कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नतायें होती है। यही चरित्र-सम्बन्धी समानता और विभिन्नता,—अभिन्नत्वमे भिन्नत्व और विभिन्नत्वमें अभिन्नत्व दिखाना उपन्यासका मुख्य कर्त्तव्य है।

सन्तान-प्रेम मानव-चरित्रका एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो। लेकिन इस सन्तान-प्रेमकी मात्रायें हैं,—उसके भेद हैं। कोई तो सन्तानके लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड जानेके लिए आप नाना प्रकारके कष्ट झेलता है, लेकिन, धर्मभीरुताके कारण अनुचित रीतिसे धन-संचय नही करता। उसे शंका होती है कि कही इसका परिणाम हमारी सन्तानके लिए बुरा न हो। कोई ऐसा होता है कि औचित्यका

लेशमात्र भी विचार नहीं करता,—जिस तरह भी हो कुछ धन-संचय कर जाना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरोंका गला ही क्यों न काटना पडे,—वह सन्तान-प्रेम पर अपनी आत्माको भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा सन्तान-प्रेम वह है जो सन्तानका कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है,—उसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो सन्तान-प्रेमके अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भाँति अन्य मानव-गुणोंकी भी मात्रायें और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म,—जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलतासे हम चरित्रोंका चित्रण कर सकेंगे। सन्तान-प्रेमकी एक दशा यह भी है कि पुत्रको कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाय। वह भी सन्तान-प्रेम ही है जिसमें पिताके लिए पुत्र घीका लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वादमें बाधक नहीं होता। ऐसा सन्तान-प्रेम भी देखनेमें आता है जिसमें पुत्र-प्रेमके वशीभूत होकर शराबी जुआरी पिता ये सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि उपन्यासकारको इन चरित्रोंका अध्ययन करके उनको पाठकके सामने रख देना चाहिए,—उसमें अपनी तरफसे काट-छाँट, कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए, या किसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिए चरित्रोंमे कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए?

यहींसे उपन्यासकारोंके दो गरोह हो गये हैं। एक आदर्शवादी दूसरा यथार्थवादी।

यथार्थवादी चरित्रोंको पाठकके सामने उनके यथार्थ नग्न रूपमें रख देता है। इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रताका परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रताका परिणाम अच्छा,—उसके चरित्र अपनी कमज़ोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते है। संसारमें सदैव नेकीका फल नेक और बदीका फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है,—नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनायें सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं,—उनको नेकीका फल उलटा मिलता है; बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते है,—उनको बदीका फल उलटा मिलता है। (प्रकृतिका नियम विचित्र है!) यथार्थवादी अनुभवकी बेड़ियोंमे जकड़ा होता

है और चूँकि संसारमे बुरे चरित्रोकी ही प्रधानता है,—यहाँ तक कि उज्ज्वलसे उज्ज्वल चरित्रमे भी कुछ न कुछ दाग़-धब्बे रहते हैं, इसलिए, यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओ, हमारी विषमताओ और हमारी क्रूरताओका नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्रपरसे हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारो तरफ बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है।

इसमें सन्देह नहीं कि समाजकी कुप्रथाकी ओर उसका ध्यान दिलानेके लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योकि, इसके बिना, बहुत संभव है, हम उस बुराईको दिखानेमें अत्युक्तिसे काम लें और चित्रको उससे कहीं काला दिखायें जितना वह वास्तवमे है। लेकिन जब वह दुर्बलताओको चित्रण करनेमे शिष्टताकी सीमाओसे आगे बढ जाता है तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर, मानव-स्वभावकी एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल और क्षुद्रता और कपटसे घिरा हुआ है, उसीकी पुनरावृत्ति उसके चित्तको प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोडी देरके लिए ऐसे संसारमे उडकर पहुँच जाना चाहता है जहाँ उसके चित्तको ऐसे कुत्सित भावोंसे नजात मिले,—वह भूल जाय कि मै चिन्ताओके बंधनमें पडा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियोके दर्शन हों; जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्यका ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिलमें ख़याल होता है कि जब हमे किस्से-कहानियो में भी उन्ही लोगोसे साबक़ा है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पडता है, तो फिर, ऐसी पुस्तक पढें ही क्यो?

अँधेरी गर्म कोठरीमें काम करते करते जब हम थक जाते हैं तो इच्छा होती है कि किसी बाग़मे निकलकर निर्मल स्वच्छ वायुका आनन्द उठाएँ।—इसी कमीको आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमें ऐसे चरित्रोसे परिचित कराता है जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासनासे रहित होते हैं, जो साधु-प्रकृतिके होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नही होते, उनकी सरलता उन्हें सासारिक विषयोमे धोखा देती है, लेकिन, काइयाँपनसे ऊबे हुए प्राणियोको ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक-ज्ञान-विहीन चरित्रोंके दर्शनसे एक विशेष आनन्द होता है।

यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थानमे पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवादमें यह गुण है, वहाँ उसमे इस बातकी भी शङ्का है कि हम ऐसे चरित्रोको न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तोकी मूर्तिमात्र हों,—जिनमे जीवन न हो। किसी देवताकी कामना करना मुश्किल नही है, लेकिन, उस देवतामें प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।

इसलिए, वही उपन्यास उच्च-कोटिके समझे जाते हैं जिनमे यथार्थ और आदर्शका समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्शको सजीव बनानेहीके लिए यथार्थका उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यासकी यही विशेषता है। उपन्यासकारकी सबसे बडी विभूति ऐसे चरित्रोकी सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचारसे पाठकको मोहित कर लें। जिस उपन्यासके चरित्रोंमे यह गुण नहीं है वह दो कौडीका है।

चरित्रको उत्कृष्ट और आदर्श बनानेके लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो,—महान्से महान् पुरुषोमें भी कुछ न कुछ कमज़ोरियाँ होती हैं,—चरित्रको सजीव बनानेके लिए उसकी कमज़ोरियोका दिग्दर्शन करानेसे कोई हानि नहीं होती। बल्कि, यही कमज़ोरियाँ उस चरित्रको मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्रका हमारे ऊपर कोई प्रभाव नही पड़ सकता। हमारे प्राचीन साहित्यपर आदर्शोंकी छाप लगी हुई है। वह केवल मनोरंजनके लिए न था। उसका मुख्य उद्देश मनोरंजनके साथ आत्म-परिष्कार भी था। साहित्यकारका पद इससे कही ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्वको जगाता है, हममे सद्भावोका संचार करता है, हमारी दृष्टिको फैलाता है।—कमसे कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथको सिद्ध करनेके लिए जरूरत है कि उसके चरित्र positive (=वास्तविक) हों, जो प्रलोभनोके आगे सिर न झुकाएँ, बल्कि, उनको परास्त करे; जो वासनाओके पंजेमे न फँसें, बल्कि, उनका दमन करें; जो किसी विजयी सेनापतिकी भाँति शत्रुओका संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रोंका हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पडता है।

साहित्यका सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कलाकी पूर्ति-के लिए की जाय। 'कलाके लिए कला'के सिद्धान्तपर किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्यकी मौलिक प्रवृत्तियो पर अवलंबित हो; ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा, ये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं, इन्हीकी छटा दिखाना साहित्यका परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्यके तो रचना हो ही नही सकती।

जब साहित्यकी रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मतके प्रचारके लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पदसे गिर जाता है,—इसमे कोई संदेह नहीं। लेकिन, आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गतिसे बदल रही हैं, इतने नये नये विचार पैदा हो रहे है कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्यके आदर्शको ध्यानमे रख ही नही सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखकपर इन परिस्थितियोका असर न पडे,—वह उनसे आदोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्षके ही नहीं, यूरोपके बडे बड़े विद्वान् भी अपनी रचनाद्वारा किसी न किसी 'वाद'का प्रचार कर रहे है। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नही; अपने मतकी पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हे कोई इच्छा नहीं। मगर, यह क्योकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचारके प्रचारके लिए लिखा जाता है उसका महत्त्व क्षणिक होता है? विक्टर ह्यूगोका 'ला मिज़रेबुल', टालस्टायके अनेक ग्रंथ, डिकेन्सकी कितनी ही रचनाये, विचारप्रधान होते हुए भी उच्च कोटिकी साहित्यिक रचनाएँ हैं और अबतक उनका आकर्षण कम नही हुआ। आज भी शॉ, वेल्स आदि बड़े बडे लेखकोके ग्रन्थ प्रचारहीके उद्देश्यसे लिखे जा रहे हैं।

हमारा खयाल है कि क्यो न कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरतासे करे जिसमें मनुष्यकी मौलिक प्रवृत्तियोका संघर्ष निभता रहे? 'कलाके लिए कला'का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हमे देखते हैं कि हम भाँति भाँतिके राजनीतिक और सामाजिक बन्धनोंमें जकडे हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रताके भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्तिका करुण क्रंदन सुनाई देता है, तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणीका हृदय न दहल उठे? हाँ, उपन्यासकारको इसका प्रयत्न अवश्य करना

चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूपसे व्यक्त हो, उपन्यासकी स्वाभाविकतामे उस विचारके समावेशसे कोई विघ्न न पड़ने पाए; अन्यथा, उपन्यास नीरस हो जायगा।

डिकेंस इंग्लैंडका बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुका है। 'पिकविक पेपर्स' उसकी एक अमर हास्य-रस-प्रधान रचना है। 'पिकविक'का नाम शिकरम गाड़ीके मुसाफिरोंकी ज़बानसे डिकेसके कानमे आया। बस, नामके अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेष,—सबकी रचना हो गई। 'साइलस मार्नर' भी अँगरेजीका एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियटने, जो इसकी लेखिका है, लिखा है कि अपने बचपनमें उन्होंने एक फेरी लगानेवाले जुलाहेको पीठपर कपडेका थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तसवीर उनके हृदय-पटपर अंकित हो गई थी और समयपर इस उपन्यासके रूपमें प्रकट हुई। 'स्कारलेट लैटर' भी हॅथर्नकी बहुत ही सुन्दर, मर्मस्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तकका बीजाङ्कुर उन्हे एक पुराने मुकद्दमेकी मिसिलसे मिला। भारतवर्षमे अभी उपन्यासकारोके जीवन-चरित्र लिखे नहीं गये, इसलिए, भारतीय उपन्यास-साहित्यसे कोई उदाहरण देना कठिन है। 'रङ्गभूमि'का बीजाकुर हमे एक अन्धे भिखारीसे मिला जो हमारे गाँवमें रहता था। एक ज़रा-सा इशारा, एक ज़रा-सा बीज, लेखकके मस्तिष्कमे पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उसपर आश्चर्य करने लगते हैं। 'एम० एण्ड्रूज हिम' रडयार्ड किपलिगकी एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है। किपलिग साहबने अपने एक नोटमें लिखा है कि एक इंजीनियर साहबने रातको अपनी जीवनकथा सुनाई थी। वही उस काव्यका आधार थी। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकारका कथन है कि उसे अपने उपन्यासोंके चरित्र अपने पडोसियोमे मिले। वह घंटों अपनी खिड़कीके सामने बैठे लोगोंको आते-जाते सूक्ष्म दृष्टिसे देखा करते और उनकी बातोंको ध्यानसे सुना करते थे। 'जेन आयर' भी उपन्यासके प्रेमियोने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओमे इस विषयपर बहस हो रही थी कि उपन्यासकी नायिका रूपवती होनी चाहिए या नहीं। 'जेन आयर' की लेखिकाने कहा, "मैं ऐसा उपन्यास लिखूँगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी।" इसका फल था 'जेन आयर।'

बहुधा लेखकोंको पुस्तकोंसे अपनी रचनाओंके लिए अंकुर मिल जाते हैं। हाल केनका नाम पाठकोंने सुना है। आपकी एक उत्तम रचनाका हिन्दी अनुवाद हालहीमे 'अमरपुरी' के नामसे हुआ है। आप लिखते हैं कि मुझे बाइबिलसे प्लाट मिलते है। 'मेटरलिक' बेलजियमके जगद्विख्यात नाटककार हैं। उन्हे बेलजियमका शेक्सपियर कहते हैं। उनका 'मोनावोन' नामक ड्रामा ब्राउनिगकी एक कवितासे प्रेरित हुआ था और 'मेरी मैगडालेन' एक जर्मन ड्रामासे। शेक्सपियरके नाटकोंका मूल स्थान खोज खोज कर कितने ही विद्वानोंने 'डाक्टर'की उपाधि प्राप्त कर ली है। कितने वर्तमान औपन्यासिको और नाटककारोंने शेक्सपियरसे सहायता ली है, इसकी खोज करके भी कितने ही लोग 'डाक्टर' बन सकते है। 'तिलिस्म होशरुबा' फारसीका एक बृहत् पोथा है जिसके रचयिता अकबरके दरबारवाले फ़ैज़ी कहे जाते है, हालांकि हमे इसमे सदेह है। इस पोथेका उर्दूमे भी अनुवाद हो गया है। कमसे कम १०,००० पृष्ठो की पुस्तक होगी। स्व० बाबू देवकीनंदन खत्रीने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-संतति'का बीजाकुर 'तिलिस्म होशरुबा'से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

ससार-साहित्यमें कुछ ऐसी कथाये है जिनपर हजारो बरसोसे लेखकगण आख्यायिकाये लिखते आये है और शायद हज़ारो वर्षोंतक लिखते जायॅगे। हमारी पौराणिक कथाओपर न जाने कितने नाटक और कितनी कथाये रची गई हैं। यूरोपमे भी यूनानकी पौराणिक गाथा कवि-कल्पनाके लिए एक अशेष आधार है। 'दो भाइयोकी कथा', जिसका पता पहले मिस्र देशके तीन हज़ार वर्ष पुराने लेखोंसे मिला था, फ्रान्ससे भारतवर्ष तककी एक दर्जनसे अधिक भाषाओंके साहित्यमे समाविष्ट हो गई है। यहाँ तक कि बाइबिलमे भी उस कथाकी एक घटना ज्योकी त्यो मिलती है।

किन्तु, यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना-शक्तिके अभावके कारण प्राचीन कथाओका उपयोग करते है। बात यह है कि नये कथानकमे वह रस, वह आकर्षण, नही होता जो पुराने कथानकोंमे पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए। 'शकुंतला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाय, तो वह कितना मर्मस्पर्शी होगा, यह बतानेकी ज़रूरत नही।

रचना-शक्ति थोड़ी-बहुत सभी प्राणियोमे रहती है। जो उसमें अभ्यस्त हो चुके हैं उन्हे तो फिर झिझक नही रहती—कलम उठाया और लिखने लगे; लेकिन, नये लेखकोंको पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है मानों वे दरियामें कूदने जा रहे हों। बहुधा एक तुच्छ-सी घटना उनके मस्तिष्कपर प्रेरकका काम कर जाती है। किसीका नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर, उनकी कल्पना जाग उठती है। किस व्यक्तिपर किस प्रेरणाका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, यह उस व्यक्तिपर निर्भर है। किसीकी कल्पना दृश्य-विषयोंसे उभरती है, किसीकी गंधसे, किसीकी श्रवण,—किसीको नये, सुरम्य स्थानकी सैरसे इस विषयमें यथेष्ट सहायता मिलती है। नदीके तटपर अकेले भ्रमण करनेसे बहुधा नई नई कल्पनायें जाग्रत् होती हैं।

ईश्वरदत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी उपदेश, शिक्षा, अभ्यास सभी निष्फल जायगा। मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमें यह शक्ति है, किसमें नहीं? कभी इसका सुबूत मिलनेमें बरसों गुज़र जाते हैं और बहुत-सा परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिकाके एक पत्र-संपादकने इसकी परीक्षा करनेका नया ढंग निकाला है कि दलके दल युवकोंमेसे कौन रत्न है और कौन पाषाण। वह एक काग़ज़के टुकड़ेपर किसी प्रसिद्ध व्यक्तिका नाम लिख देता है और उम्मेदवारको वह टुकड़ा देकर उस नामके सम्बन्धमें ताबड़तोड़ प्रश्न करना शुरू करता है: उसके बालोंका रंग क्या है? उसके कपड़े कैसे हैं? कहाँ रहती है? उसका बाप क्या काम करता है? जीवनमें उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है? आदि। यदि युवक महोदयने इन प्रश्नोंके संतोषजनक उत्तर न दिये, तो उन्हें अयोग्य समझकर बिदा कर देता है। जिसकी निरीक्षण-शक्ति इतनी शिथिल हो, वह उसके विचारमें उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा-विभागमें नवीनता तो अवश्य है, पर भ्रामकताकी मात्रा भी कम नहीं है।

लेखकोंके लिए एक नोट-बुकका रहना बहुत आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियोंके लेखकने कभी नोट-बुक नहीं रक्खी, पर इसकी ज़रूरतको वह स्वीकार करता है। कोई नई चीज़, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर

नोट-बुकमें दर्ज कर लेनेसे बड़ा काम निकलता है। यूरोपमे लेखकोंके पास उस वक्त तक नोट-बुक अवश्य रहती है जब तक उनका मस्तिष्क इस योग्य नहीं बनता कि हर एक प्रकारकी चीज़ोको वे अलग अलग ख़ानोमे संगृहीत कर ले। बरसोके अभ्यासके बाद यह योग्यता प्राप्त हो जाती है इसमें संदेह नहीं, लेकिन, आरंभ-कालमें तो नोट-बुकका रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हो, उसके वर्णन स्वाभाविक हो, तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पड़ेगा। देखिए, एक उपन्यासकारकी नोट-बुकका नमूना—

"अगस्त २१, १२ बजे दिन, एक नौकापर एक आदमी, श्याम वर्ण, सुफेद बाल, आँखें तिरछी, पलकें भारी, ओठ ऊपरको उठे हुए और मोटे, मूँछें एेंठी हुई।

"सितम्बर १, समुद्रका दृश्य, बादल श्याम और श्वेत, पानीमे सूर्यका प्रतिबिम्ब काला, हरा, चमकीला; लहरें फेनदार, उनका ऊपरी भाग उजला। लहरोंका शोर, लहरोके छींटोंसे झाग उड़ती हुई।"

उन्ही महाशयसे जब पूछा गया कि आपको कहानियोके प्लाट कहाँ मिलते है ? तो आपने कहा, "चारों तरफ़।—अगर लेखक अपनी आँखें खुली रक्खे, तो उसे हवामेंसे भी कहानियाँ मिल सकती हैं। रेलगाडीमें, नौकाओंपर, समाचार-पत्रोंमें, मनुष्योंके वार्तालापमें, और हजारो जगहोसे सुंदर कहानियाँ बनाई जा सकती हैं। कई सालोंके अभ्यासके बाद देख-भाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप ही आप अपने मतलबकी बात छाँट लेती है। दो साल हुआ, मैं एक मित्रके साथ सैर करने गया। बातों ही बातोंमे यह चरचा छिड़ गई कि यदि दोके सिवा संसारके और सब मनुष्य मार डाले जायँ तो क्या हो ? इस अंकुरसे मैंने कई सुन्दर कहानियाँ सोच निकालीं।"

इस विषयमे तो उपन्यास-कलाके सभी विशारद सहमत हैं कि उपन्यासोके लिए पुस्तकोसे मसाला न लेकर जीवनहीसे लेना चाहिए। वाल्टर बेसेंट अपनी 'उपन्यास-कला' नामक पुस्तकमे लिखते हैं—

"उपन्यासकारको अपनी सामग्री, आलेपर रक्खी हुई पुस्तकोंसे नहीं, उन मनुष्योंके जीवनसे लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारों तरफ़ मिलते रहते हैं।

मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकाश लोग अपनी आँखोसे काम नही लेते। कुछ लोगोको यह शंका भी होती है कि मनुष्योमे जितने अच्छे नमूने थे वे तो पूर्वकालीन लेखकोंने लिख डाले, अब हमारे लिए क्या बाकी रहा? यह सत्य है, लेकिन अगर पहले किसीने बूढ़े कंजूस, उड़ाऊ युवक, •जुआरी, शराबी, रंगीन युवती आदिका चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्गके दूसरे चरित्र नहीं मिल सकते? पुस्तकोमे नये चरित्र न मिले, पर जीवनमे नवीनताका अभाव कभी नहीं रहा।''

हेनरी जेम्सने इस विषयमें जो विचार प्रकट किये हैं, वह भी देखिए—

''अगर किसी लेखककी बुद्धि कल्पना-कुशल है तो वह सूक्ष्मतम भावोसे जीवनको व्यक्त कर देती है, वह वायुके स्पंदनको भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन, कल्पनाके लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुणी लेखिकाने कभी सैनिक छावनियाँ नही देखी हैं उससे यह कहनेमें कुछ भी अनौचित्य नहीं है कि आप सैनिक जीवनमें हाथ न डालें। मैं एक अँग्रेज़ उपन्यासकारको जानता हूँ जिसने अपनी एक कहानीमें फ्रासके प्रोटेस्टेंट युवकोंके जीवनका अच्छा चित्र खींचा था। उसपर साहित्यिक संसारमें बड़ी चर्चा रही। उससे लोगोने पूछा, 'आपको इस समाजके निरीक्षण करनेका ऐसा अवसर कहाँ मिला?' (फ्रान्स रोमन कैथोलिक देश है और प्रोटेस्टेंट वहाँ साधारणतः नहीं दिखाई पड़ते।) मालूम हुआ कि उसने एक बार, केवल एक बार, कई प्रोटेस्टेंट युवकोंको बैठे और बातें करते देखा था। बस, एक बारका देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया जिसपर कल्पना अपना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमें वह ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद थी जो एक इञ्चसे एक योजनकी खबर लाती है और जो शिल्पीके लिए बड़े महत्त्वकी वस्तु है।''

मिस्टर जी० के० चेस्टरटन जासूसी कहानियाँ लिखनेमें बड़े प्रवीण हैं। आपने ऐसी कहानियाँ लिखनेका जो नियम बताया है वह बहुत शिक्षाप्रद है। हम उसका आशय लिखते हैं—

''कहानीमें जो रहस्य हो उसे कई भागोंमे बाँटना चाहिए। पहले छोटी-सी बात खुले, फिर उससे कुछ बड़ी और अंतमे मुख्य रहस्य खुल जाय।

लेकिन, हरएक भागमे कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन अवश्य होना चाहिए जिसमें पाठककी इच्छा सब-कुछ जाननेके लिए बलवती होती चली जाय। इस प्रकारकी कहानियोमे इस बातका ध्यान रखना परमावश्यक है कि कहानीके अंतमे रहस्य खोलनेके लिए कोई नया चरित्र न लाया जाय। जासूसी कहानियोमें यही सबसे बडा दोष है। रहस्यके खुलनेमें तभी मज़ा है जब कि वही चरित्र अपराधी सिद्ध हो जिसपर कोई भूलकर भी सन्देह न कर सकता था।''

उपन्यास-कलामें यह बात भी बडे महत्त्वकी है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक भी कल्पना-शील होता है, इसलिए वह ऐसी बाते पढ़ना पसन्द नहीं करता जिनकी वह आसानीसे कल्पना कर सकता है। वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब-कुछ खुद कह डाले और पाठककी कल्पनाके लिए कुछ भी बाकी न छोड़े। वह कहानीका खाका-मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभिरुचिके अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन-सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए। कहानी या उपन्यासमें पाठककी कल्पनाके लिए जितनी ही अधिक सामग्री हो उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकतासे कम बतलाता है तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज्यादा बतलाता है तो कहानीमे मज़ा नहीं आता। किसी चरित्रकी रूप-रेखा या किसी दृश्यको चित्रित करते समय हुलिया-नवीसी करनेकी ज़रूरत नहीं। दो-चार वाक्योमें मुख्य मुख्य बातें कह देनी चाहिए। किसी दृश्यको तुरत देखकर उसका वर्णन करनेसे बहुत-सी अनावश्यक बातोंके आ जानेकी सम्भावना रहती है। कुछ दिनोंके बाद अनावश्यक बातें आप ही आप मस्तिष्कसे निकल जाती हैं, केवल मुख्य बातें स्मृतिपर अंकित रह जाती हैं। तब उस दृश्यके वर्णन करनेमे अनावश्यक बातें न रहेंगी। आवश्यक और अनावश्यक कथनका एक उदाहरण देकर हम अपना आशय और स्पष्ट करना चाहते हैं—

" दो मित्र संध्या समय मिलते हैं। सुविधाके लिए हम उन्हें 'राम' और 'श्याम' कहेंगे।

राम—गुड इवनिंग श्याम, कहो आनन्द तो है?

हलो राम, आज तुम किधर भूल पड़े?

राम—कहो क्या रङ्ग ढङ्ग है ? तुम तो भले ईदके चाँद हो गये।

श्याम—मै तो ईदका चाँद न था, हाँ, आप गूलरके फूल भले ही हो गये।

राम—चलते हो संगीतालयकी तरफ ?

श्याम—हाँ चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चोंके लिए कहानी नहीं लिख रहा है जिन्हें अभिवादनकी मोटी मोटी बाते बताना ही उसका ध्येय है तो वह केवल इतना ही लिख देगा—

"अभिवादनके पश्चात् दोनों मित्रोंने संगीतालयकी राह ली।"

उपन्यासका विषय

उपन्यासका क्षेत्र, अपने विषयके लिहाज़से, दूसरी ललित कलाओंसे कहीं ज्यादा विस्तृत है। वाल्टर बेसेटने इस विषय पर इन शब्दोंमें अपने विचार प्रकट किये हैं—

"उपन्यासके विषयका विस्तार मानव-चरित्रसे किसी क़दर कम नही है। उसका सम्बन्ध अपने चरित्रोंके कर्म और विचार, उनका देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्षसे है। मनोभावके विभिन्न रूप और भिन्न भिन्न दशाओंमें उनका विकास उपन्यासके मुख्य विषय हैं।"

इसी विषय-विस्तारने उपन्यासको संसार-साहित्यका प्रधान अङ्ग बना दिया है। अगर आपको इतिहास से प्रेम है तो आप अपने उपन्यासमें गहरेसे गहरे ऐतिहासिक तत्त्वोंका निरूपण कर सकते हैं। अगर आपको दर्शनसे रुचि है, तो आप उपन्यासमें महान् दार्शनिक तत्वोंका विवेचन कर सकते हैं। अगर आपमें कवित्व-शक्ति है तो उपन्यासमे उसके लिए भी काफ़ी गुञ्जायश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्त्व आदि सभी विषयोंके लिए उपन्यासमें स्थान है। यहाँ लेखकको अपनी क़लमका जौहर दिखानेका जितना अवसर मिल सकता है, उतना साहित्यके और किसी अङ्गमें नही मिल सकता; लेकिन, इसका यह आशय नही कि उपन्यासकारोंके लिए कोई बन्धन ही नहीं है। उपन्यासका विषय-विस्तार ही उपन्यासकारको बेड़ियोंमें जकड़ देता है। तङ्ग सड़कों पर चलनेवालोंके लिए अपने लक्ष्य पर पहुँचना उतना कठिन नहीं है, जितना एक लम्बे-चौड़े मार्गहीन मैदानमें चलनेवालोंके लिए।

उपन्यासकारका प्रधान गुण उसकी सृजन-शक्ति है। अगर उसमें इसका अभाव है, तो वह अपने काममें कभी सफल नही हो सकता। उसमें और चाहे जितने अभाव हों, पर, कल्पना-शक्तिकी प्रखरता अनिवार्य है। अगर उसमें

यह शक्ति मौजूद है तो वह ऐसे कितने ही दृश्यो, दशाओं और मनोभावोंका चित्रण कर सकता है जिनका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। अगर इस शक्तिकी कमी है तो, चाहे उसने कितना ही देशाटन क्यो न किया हो, वह कितना ही विद्वान् क्यो न हो, उसके अनुभवका क्षेत्र कितना ही विस्तृत क्यो न हो, उसकी रचनामें सरसता नही आ सकती। ऐसे कितने ही लेखक हैं जिनमें मानव-चरित्रके रहस्योका बहुत मनोरञ्जक, सूक्ष्म और प्रभाव डालनेवाली शैलीमें बयान करनेकी शक्ति मौजूद है, लेकिन कल्पनाकी कमीके कारण वे अपने चरित्रोंमें जीवनका सञ्चार नहीं कर सकते,—जीती-जागती तसवीरें नही खीच सकते। उनकी रचनाओंको पढ़कर हमे यह ख़याल नही होता कि हम कोई सच्ची घटना देख रहे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यासकी रचना-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिए, लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि हम शब्दोका गोरखधन्धा रचकर पाठकको इस भ्रममें डाल दें कि इसमे ज़रूर कोई न कोई गूढ़ आशय है। जिस तरह किसी आदमीका ठाठ-बाट देखकर हम उसकी वास्तविक स्थितिके विषयमें गलत राय कायम कर लिया करते हैं, उसी तरह उपन्यासोंके शाब्दिक आडम्बर देखकर भी हम ख्याल करने लगते हैं कि इसमे कोई महत्त्वकी बात छिपी हुई है। सम्भव है, ऐसे लेखकको थोड़ी देरके लिए यश मिल जाय; किन्तु, जनता उन्हीं उपन्यासोंको आदरका स्थान देती है जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।

उपन्यासकारको इसका अधिकार है कि वह अपनी कथाको घटनावैचित्र्यसे रोचक बनाये; लेकिन, शर्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढाँचेसे निकट सम्बन्ध रखती हो; इतना ही नहीं, बल्कि, उसमें इस तरह घुल-मिल गई हो कि कथाका आवश्यक अंग बन जाय, अन्यथा, उपन्यासकी दशा उस घरकी-सी हो जायगी जिसका हरेक हिस्सा अलग अलग हो। जब लेखक अपने मुख्य विषयसे हटकर किसी दूसरे प्रश्नपर बहस करने लगता है तो वह पाठकके उस आनन्दमें बाधक हो जाता है जो उसे कथामें आ रहा था। उपन्यासमें वही घटनायें, वही विचार लाना चाहिए जिनसे कथाका माधुर्य बढ जाय, जो प्लाटके विकासमें सहायक हों अथवा चरित्रोंके गुप्त मनोभावोंका प्रदर्शन करते हों। पुरानी कथाओंमें

लेखकका उद्देश्य घटना-वैचित्र्य दिखाना होता था इसलिए, वह एक कथामें कई उपकथाये मिलाकर अपना उद्देश्य पूरा करता था। साम्प्रतकालीन उपन्यासोमे लेखकका उद्देश्य मनोभावो और चरित्रके रहस्योंका खोलना होता है; अतएव, यह आवश्यक है, कि वह अपने चरित्रोंको सूक्ष्म दृष्टिसे देखे, उसके चरित्रोंका कोई भाग उसकी निगाहसे न बचने पावे। ऐसे उपन्यासमें उपकथाओंकी गुंजायश नहीं होती।

यह सच है कि ससारकी प्रत्येक वस्तु उपन्यासका उपयुक्त विषय बन सकती है। प्रकृतिका प्रत्येक रहस्य, मानव-जीवनका हरएक पहलू, जब किसी सुयोग्य लेखककी क़लमसे निकलता है तो वह साहित्यका रत्न बन जाता है; लेकिन इसके साथ ही विषयका महत्त्व और उसकी गहराई भी उपन्यासके सफल होनेमे बहुत सहायक होती है। यह ज़रूरी नही कि हमारे चरित्र-नायक ऊँची श्रेणीके ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य-मात्रमें व्यापक हैं। हमें केवल हृदयके उन तारोपर चोट लगानी चाहिए जिनकी झंकारसे पाठकोंके हृदयपर भी वैसा ही प्रभाव हो। सफल उपन्यासकारका सबसे बड़ा लक्षण यह है कि वह अपने पाठकोके हृदयमें उन्ही भावोको जागरित कर दे जो उसके पात्रोंमें हों। पाठक भूल जाय कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है,—उसके और पात्रोंके बीचमें आत्मीयताका भाव उत्पन्न हो जाय।

मनुष्यकी सहानुभूति साधारण स्थितिमें तब तक जागरित नही होती जबतक कि उसके लिए उसपर विशेष रूपसे आघात न किया जाय। हमारे हृदयके अंतरतम भाव साधारण दशाओंमें आन्दोलित नही होते। इसके लिए ऐसी घटनाओंकी कल्पना करनी होती है जो हमारा दिल हिला दें, जो हमारे भावोकी गहराई तक पहुँच जायँ। अगर किसी अबलाकी पराधीन दशाका अनुभव करना हो तो इस घटनासे ज्यादा प्रभाव डालनेवाली और कौन घटना हो सकती है कि शकुंतला राजा दुष्यन्तके दरबारमें आकर खडी होती है और राजा उसे न पहचानकर उसकी उपेक्षा करता है? खेद है कि आजकलके उपन्यासोंमें गहरे भावोंको स्पर्श करनेका बहुत कम मसाला रहता है। अधिकाश उपन्यास गहरे भावोंका प्रदर्शन नही करते। हम आये-दिनकी साधारण बातोहीमें उलझकर रह जाते हैं।

इस विषयमें अभी तक मतभेद है कि उपन्यासमें मानवीय दुर्बलताओं और कुवासनाओंका, कमज़ोरियों और अपकीर्तियोका, विशद वर्णन वांछनीय है या नहीं; मगर, इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो लेखक अपनेको इन्ही विषयोमें बाँध लेता है वह कभी उस कलाविद्की महत्ताको नही पा सकता जो जीवन-संग्राममे एक मनुष्य की आन्तरिक दशाको,—सत् और असत्के संघर्ष और अन्तमे सत्यकी विजयको मार्मिक ढंगसे दर्शाता है। यथार्थवादका यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टिको अन्धकारकी ओर ही केन्द्रित कर दें। अन्धकारमे मनुष्यको अन्धकारके सिवा और सूझ ही क्या सकता है? बेशक, चुटकियाँ लेना, यहाँ तक कि नश्तर लगाना भी कभी कभी आवश्यक होता है, लेकिन, दैहिक व्यथा चाहे नश्तरसे दूर हो जाय, मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारतासे ही शान्त हो सकती है। किसीको नीच समझकर हम उसे ऊँचा नहीं बना सकते, बल्कि, उसे और नीचे गिरा देंगे। कायर यह कहनेसे बहादुर न हो जायगा कि 'तुम कायर हो।' हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उसमें साहस, बल और धैर्य,—सब कुछ है, केवल उसे जगानेकी ज़रूरत है। साहित्यका सम्बन्ध सत्य और सुन्दरसे है, यह हमे न भूलना चाहिए।

मगर आजकल कुकर्म, हत्या, चोरी, डाकेसे भरे हुए उपन्यासोकी जैसे बाढ़-सी आ गई है। साहित्यके इतिहासमे ऐसा कोई समय न था जब ऐसे कुरुचि-पूर्ण उपन्यासोकी इतनी भरमार रही हो। जासूसीके उपन्यासोमे क्यो इतना आनन्द आता है? क्या इसका कारण यह है कि पहलेसे अब लोग ज्यादा पापासक्त हो गये हैं? जिस समय लोगोंका यह दावा है कि मानव-समाज नैतिक और बौद्धिक उन्नतिके शिखर पर पहुँचा हुआ है, यह कौन स्वीकार करेगा कि हमारा समाज पतनकी ओर जा रहा है? शायद, इसका यह कारण हो कि इस व्यावसायिक शातिके युगमें ऐसी घटनाओंका अभाव हो गया है जो मनुष्यके कुतूहल-प्रेमको सन्तुष्ट कर सकें,—जो उसमे सनसनी पैदा कर दे। इसका यह कारण हो सकता है कि मनुष्यकी धन-लिप्सा उपन्यासके चरित्रोंको धनके लोभसे कुकर्म करते देखकर प्रसन्न होती है। ऐसे उपन्यासोमे यही तो होता है कि कोई आदमी लोभ-वश किसी धनाढ्य पुरुषकी हत्या कर डालता है, या उसे किसी संकटमें फँसाके उससे मनमानी रकम ऐंठ लेता है। फिर जासूस आते

हैं और मुजरिम गिरफ़्तार होता है, उसे सजा मिलती है। ऐसी रुचिको प्रेम, अनुराग या उत्सर्गकी कथाओंमें आनन्द नहीं आ सकता। भारतमें वह व्यावसायिक वृद्धि तो नहीं हुई, ऐसे उपन्यासोंकी भरमार शुरू हो गई। अगर मेरा अनुमान ग़लत नहीं है तो ऐसे उपन्यासोंकी खपत इस देशमें भी अधिक होती है। इस कुरुचिका परिणाम रूसी उपन्यास-लेखक मैक्सिम गोर्कीके शब्दोंमें ऐसे वातावरणका पैदा होना है जो कुकर्मकी प्रवृत्तिको दृढ़ करता है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्यमें पशु-वृत्तियाँ इतनी प्रबल होती जा रही हैं कि अब उसके हृदयमें कोमल भावोंके लिए स्थान ही नहीं रहा।

उपन्यासके चरित्रोंका चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा उतना ही पढ़नेवालोंपर उसका असर पड़ेगा; और यह लेखककी रचना-शक्तिपर निर्भर है। जिस तरह किसी मनुष्यको देखते ही हम उसके मनोभावोंसे परिचित नहीं हो जाते, ज्यों ज्यों हमारी घनिष्ठता उससे बढ़ती है त्यों त्यों उसके मनोरहस्य खुलते हैं, उसी तरह उपन्यासके चरित्र भी लेखककी कल्पनामें पूर्ण रूपसे नहीं आ जाते, बल्कि, उनमें क्रमशः विकास होता जाता है। यह विकास इतने गुप्त और अस्पष्ट रूपसे होता है कि पढ़नेवालेको किसी तबदीलीका ज्ञान भी नहीं होता। अगर चरित्रोंमें किसीका विकास रुक जाय तो उसे उपन्याससे निकाल देना चाहिए, क्योंकि, उपन्यास चरित्रोंके विकासका ही विषय है। अगर उसमें विकास-दोष है, तो वह उपन्यास कमज़ोर हो जायगा। कोई चरित्र अन्तमें भी वैसा ही रहे जैसा कि पहले था,—उसके बल-बुद्धि और भावोंका विकास न हो तो वह असफल चरित्र है।

इस दृष्टिसे जब हम हिन्दीके वर्तमान उपन्यासोंको देखते हैं तो निराशा होती है। अधिकाश चरित्र ऐसे ही मिलेंगे जो काम तो बहुतेरे करते हैं, लेकिन, जैसे जो काम वे आदिमें करते, उसी तरह वही अन्तमें भी करते हैं।

कोई उपन्यास शुरू करनेके लिए यदि हम उन चरित्रोंका एक मानसिक चित्र बना लिया करें तो फिर उनका विकास दिखानेमें हमें सरलता होगी। यह कहनेकी ज़रूरत नहीं है कि विकास परिस्थितिके अनुसार स्वाभाविक हो, अर्थात्, पाठक और लेखक दोनों इस विषयमें सहमत हों। अगर पाठकका यह भाव हो कि इस दशामें ऐसा नहीं होना चाहिए था तो इसका यह आशय हो सकता है कि लेखक अपने चरित्रके अंकित करनेमें असफल रहा। चरित्रोंमें कुछ न कुछ

विशेषता भी रहनी चाहिए। कुछ लोग तो बातचीत या शक्ल-सूरतसे विशेषता उत्पन्न कर देते हैं, लेकिन, असली अन्तर वह है, जो चरित्रोंमे हो।

उपन्यासमे वार्तालाप जितना अधिक हो, और लेखककी कलमसे जितना ही कम लिखा जाय, उतना ही वह सुन्दर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नही होना चाहिए। प्रत्येक वाक्यको,—जो किसी चरित्रके मुँहसे निकले,—उसके मनोभावो और चरित्रपर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीतका स्वाभाविक, परिस्थितियोंके अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना ज़रूरी है। हमारे उपन्यासोंमें अकसर बातचीत भी उसी शैलीसे कराई जाती है मानों लेखक खुद लिख रहा हो। शिक्षित-समाजकी भाषा तो सर्वत्र एक है, हाँ, भिन्न भिन्न जातियोंकी ज़बानपर उसका रूप कुछ न कुछ बदल जाता है। बंगाली, मारवाड़ी और एँग्लो इण्डियन भी कभी कभी बहुत शुद्ध हिन्दी बोलते पाये जाते हैं, लेकिन, यह अपवाद है, नियम नही; पर, ग्रामीण बातचीत कभी कभी हमें दुबिधामें डाल देती है। बिहारकी ग्रामीण भाषा शायद दिल्लीके आसपासका आदमी समझ ही न सकेगा।

वास्तवमे कोई रचना रचयिताके मनोभावोंका, उसके चरित्रका, उसके जीवनादर्शका, उसके दर्शनका आईना होती है। जिसके हृदयमें देशकी लगन है उसके चरित्र, घटनावली और परिस्थितियाँ सभी उसी रंगमे रँगी हुई नजर आवेंगी। लहरी आनन्दी लेखकोंके चरित्रोंमें भी अधिकाश चरित्र ऐसे ही होगे। जिन्हे जगत्-गति नहीं व्यापती वे जासूसी, तिलिस्मी चीजें लिखा करते हैं। अगर लेखक आशावादी है तो उसकी रचनामें आशावादिता छलकती रहेगी, अगर वह शोकवादी है तो बहुत प्रयत्न करनेपर भी, वह अपने चरित्रोंको ज़िन्दादिल न बना सकेगा। 'आज़ाद-कथा' को उठा लीजिए तो तुरन्त मालूम हो जायगा कि लेखक हँसने-हँसानेवाला जीव है जो जीवनको गम्भीर विचारके योग्य नहीं समझता। जहाँ उसने समाजके प्रश्नोको उठाया है वहाँ शैली शिथिल हो गई है।

जिस उपन्यासको समाप्त करनेके बाद पाठक अपने अन्दर उत्कर्षका अनुभव करे, उसके सद्भाव जाग उठें, वही सफल उपन्यास है। जिसके भाव गहरे हैं, प्रखर हैं,—जो जीवनमें लद्दू बनकर नही, बल्कि, सवार बनकर चलता है, जो

उद्योग करता है और विफल होता है, उठनेकी कोशिश करता है और गिरता है, जो वास्तविक जीवनकी गहराइयोमे डूबा है, जिसने ज़िन्दगीके ऊँच-नीच देखे हैं, सम्पत्ति और विपत्तिका सामना किया है, जिसकी ज़िन्दगी मखमली गद्दोपर ही नही गुजरती, वही लेखक ऐसे उपन्यास रच सकता है जिसमें प्रकाश, जीवन और आनन्द-प्रदानका सामर्थ्य होगा।

उपन्यासके पाठकोकी रुचि भी अब बदलती जा रही है। अब उन्हे केवल लेखककी कल्पनाओसे सन्तोष नही होता। कल्पना कुछ भी हो, कल्पना ही है। वह यथार्थका स्थान नहीं ले सकती। भविष्य उन्ही उपन्यासोका है जो अनुभूतिपर खड़े हों।

इसका आशय यह है कि भविष्यमें उपन्यासमे कल्पना कम, सत्य अधिक होगा; हमारे चरित्र कल्पित न होगे, बल्कि, व्यक्तियोके जीवनपर आधारित होगे। किसी हद तक तो अब भी ऐसा होता है, पर, बहुधा हम परिस्थितियोंका ऐसा क्रम बाँधते हैं कि अन्त स्वाभाविक होनेपर भी वही होता है जो हम चाहते हैं। हम स्वाभाविकताका स्वाँग जितनी खूबसूरतीसे भर सकें, उतने ही सफल होते हैं, लेकिन, भविष्यमें पाठक इस स्वाँगसे सन्तुष्ट न होगा।

यो कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन-चरित होगा, चाहे किसी बड़े आदमीका हो या छोटे आदमीका। उसकी छुटाई-बड़ाईका फैसला उन कठिनाइयोंसे किया जायगा कि जिनपर उसने विजय पाई है। हाँ, वह चरित्र इस ढंगसे लिखा जायगा कि उपन्यास मालूम हो। अभी हम झूठको सच बनाकर दिखाना चाहते हैं, भविष्यमें सचको झूठ बनाकर दिखाना होगा। किसी किसानका चरित्र हो, या किसी देश-भक्तका, या किसी बड़े आदमीका, पर उसका आधार यथार्थपर होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है; क्योंकि, ऐसे बहुत कम लोग हैं जिन्हें बहुत-से मनुष्योको भीतरसे जाननेका गौरव प्राप्त हो।

ऐतिहासिक उपन्यास

मानव-समाजका वह बाल्य-काल कहाँ गया, जब प्रकृत और अप्रकृत, घटना और कल्पना कई भाई-बहनोके समान एक परिवारमे एक साथ खेलती हुई बड़ी हुई थीं। अब उनके अन्दर बड़ा गृह-विच्छेद हो जायगा, यह स्वप्नमें भी कोई नहीं जानता था।

किसी समय रामायण और महाभारत इतिहास थे; किन्तु, आधुनिक इतिहास उसकी कुटुम्बिताको स्वीकार करनेमें अत्यन्त संकोच करता है। वह कहता है कि काव्यके साथ परिणीत हो जानेसे उसका (इतिहासका) कुल नष्ट हो गया है। अब उसके कुलका उद्धार करना इतना कठिन हो गया है कि इतिहास काव्यके रूपमें ही उसका परिचय कराना चाहता है। काव्य कहता है, 'भाई इतिहास, तुम्हारे अन्दर भी बहुत-कुछ मिथ्या है और मेरे अन्दर भी बहुत-सी सचाइयाँ हैं, अतएव हम दोनो पहलेके समान मेल-मिलाप कर लें।' इतिहास कहता है, 'ना भाई, अपने अपने हिस्सेका बँटवारा कर लेना ही अच्छा है।' ज्ञान नामक अमीनने* सर्वत्र बँटवारेके कार्यको प्रारम्भ कर दिया है। सत्यके राज्य और कल्पनाके राज्यमें एक स्पष्ट भेदकी रेखाको खींचनेके लिए उसने कमर बाँध ली है।

इतिहासकी सीमाका व्यतिक्रम करनेके अपराधमें ऐतिहासिक उपन्यासोंके विरुद्ध जो नालिश की गई है, उसके द्वारा साहित्य-परिवारका यह गृह-विच्छेद प्रमाणित होता है।

---

* ज़मीनके सीमासम्बन्धी झगड़े और दीवानी मुक़द्दमे निबटानेवाले सरकारी कर्मचारी 'अमीन' कहलाते हैं।

इस प्रकारकी नालिश केवल हमारे ही देशमें नहीं की गई है,—केवल नवीन बाबू और बङ्किम बाबू ही अपराधी नही ठहराये गये है, किन्तु, ऐतिहासिक उपन्यास-लेखकोंके आदि और आदर्श स्कॉट भी इससे छुटकारा नहीं पा सके है।

आधुनिक अँग्रेज इतिहासज्ञोमे फ्रीमैन साहबका नाम बहुत प्रसिद्ध है। उपन्यासोके अन्दर इतिहासकी जो विकृति हो जाती है, उसपर उन्होने अपना क्रोध प्रकट किया है। वे कहते हैं कि जो लोग यूरोपके धर्मयुद्ध-यात्रा-युग (the Age of the crusades) के विषयमे कुछ भी जानना चाहते हैं, उन्हे स्कॉटके 'आइवनहो' को नहीं पढ़ना चाहिए।

निस्सन्देह, युरोपके धर्मयुद्ध-यात्रा-युगके सम्बन्धमे हमे वास्तविक सचाईका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए; किन्तु स्कॉटके 'आइवनहो'के अन्दर चिरन्तन मानव-समाजका जो नित्य सत्य है, उसका जानना भी हमारे लिए आवश्यक है। इतना ही नहीं, किन्तु, उसके जाननेकी आकाङ्क्षा इतनी प्रबल होती है कि यह जानते हुए भी कि 'क्रूसेडयुग'के सम्बन्धमे इसमे बहुत-सी भूलें हैं, छात्रगण अध्यापक फ्रीमैनसे छुपाकर 'आइवनहो'को पढ़नेके प्रलोभनको नहीं रोक सकते हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि इतिहासके विशेष सत्य और साहित्यके नित्य सत्य : इन दोनोंकी रक्षा करके क्या स्कॉट महाशय 'आइवनहो'को नही लिख सकते थे?

वे लिख सकते थे या नहीं, इस बातको निश्चयपूर्वक कहना तो कठिन है; किन्तु, हम देखते हैं कि उन्होने यह कार्य किया नही है।

यह हो सकता है कि उन्होने जान-बूझकर यह कार्य किया हो, सो बात न हो। अध्यापक फ्रीमैन क्रूसेड-युगके सम्बन्धमें जितना जानते है उतना स्कॉट नहीं जानते थे। स्कॉटके समय प्रमाणोंका विश्लेषण और ऐतिहासिक सचाइयोंका अनुशीलन इतनी दूरतक अग्रसर नहीं हुआ था।

प्रतिवादी कहेंगे कि जब वे लिखनेको बैठे थे, तो अच्छी तरह जानकर ही लिखना उचित था।

किन्तु, इस जाननेका अन्त कब होगा? हम निश्चयपूर्वक कब जान सकेंगे कि क्रूसेडके विषयमें समस्त प्रमाण समाप्त हो गये हैं? हम यह किस प्रकार

जान सकेंगे कि आज जिसको हम ऐतिहासिक ध्रुव-सत्य कह रहे हैं, कल नूतना-विष्कृत युक्तियोंके ज़ोरसे उसे ऐतिहासिक सिंहासनपरसे विच्युत नही होना पड़ेगा? आजके प्रचलित इतिहासका सहारा लेकर जो ऐतिहासिक उपन्यास लिखेंगे, कलके नूतन इतिहासवेत्ता यदि उनकी निन्दा करेंगे, तो हम इसका क्या उत्तर देंगे?

प्रतिवादी कहेंगे कि इसीलिए हम कहते हैं कि जितनी इच्छा हो उतने उपन्यास लिखो, किन्तु, ऐतिहासिक उपन्यास मत लिखो। यद्यपि इस तरहकी बात आज हमारे देशमें नहीं उठी है, किन्तु अँग्रेजी साहित्यमें सम्प्रति इसका आभास मिलता है। सर फ्रान्सिस पॉलग्रेव कहते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास एक ओर इतिहासका शत्रु है और दूसरी ओर कहानीका भी बड़ा दुश्मन है। अर्थात्, उपन्यास-लेखक कहानीकी खातिर इतिहासपर आघात करते हैं और वह आहत इतिहास कहानीका नाश कर देता है; इस प्रकार बेचारी कहानीके श्वशुर-कुल और पितृ-कुल दोनों ही नष्ट हो जाते है।

इस प्रकारकी विपत्तिके होते हुए भी ऐतिहासिक काव्य और उपन्यास साहित्यमें क्यों स्थान प्राप्त करते हैं? इसका जो कारण है, इस लेखमे हम उसीको स्पष्ट करनेका प्रयत्न करते हैं।

हमारे अलङ्कार-ग्रन्थोमे काव्यका लक्षण 'रसात्मक वाक्य' निर्देश किया गया है। इसकी अपेक्षा संक्षिप्त और व्यापक लक्षण हमने और किसी जगह नहीं देखा। निस्सन्देह, 'रस' किसको कहते हैं, इसको समझानेका कोई उपाय नहीं है। जिस व्यक्तिमें आस्वादनशक्ति है, उसके लिए 'रस' शब्दकी व्याख्या अनावश्यक है और जिसके अन्दर वह शक्ति नहीं, उसको इन बातोंके जाननेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

हमारे अलङ्कार-शास्त्रोंमे नौ मूल रसोका उल्लेख किया गया है, किन्तु, बहुतसे अनिर्वचनीय मिश्र-रस भी है जिनका उल्लेख करनेका प्रयत्न नहीं किया गया। इन्हीं समस्त अनिर्दिष्ट रसोंके अन्दर एकका नाम 'ऐतिहासिक रस' रक्खा जा सकता है और यह रस महाकाव्योंका प्राणस्वरूप होता है।

व्यक्तिविशेषका सुख-दुःख उसके निजके लिए कम नहीं है, संसारकी बड़ी बड़ी घटनायें उसके सामने छाया-सी प्रतीत होती हैं। इस प्रकार, यदि व्यक्ति-

विशेष अथवा कुछ व्यक्तियोंके जीवनके उत्थान-पतन या घात-प्रतिघातको उपन्यासमें ठीक उसी प्रकार वर्णन किया जाय, तो रसकी तीव्रता बढ़ जाती है और यह रसावेग लोगोंके अत्यन्त निकट आकर आक्रमण करता है। हम लोगोंमेंसे अधिकांशके सुख-दुःखोंकी परिधि सीमाबद्ध है,—हमारे जीवनकी तरङ्गोंका क्षोभ कुछ आत्मीय बन्धु-बान्धवोंके अन्दर ही समाप्त हो जाता है। 'विषवृक्ष'में नगेन्द्र, सूर्यमुखी और कुन्दनन्दिनीकी, विपत्ति और सम्पत्ति, हर्ष और विषादको हम अपना ही समझ सकते हैं, क्योंकि, उन समस्त सुख-दुःखोंका केन्द्रस्थल नगेन्द्रकी परिवार-मण्डली ही है। नगेन्द्रको अपना पडोसी समझनेमे हमे कोई रुकावट नहीं होती।

किन्तु, पृथ्वीमें इस प्रकारके बहुत ही थोड़े लोगोंका अभ्युदय होता है जिनके सुख-दुःख संसारकी बृहत् घटनाओंके साथ बँधे हुए होते हैं। राज्योंका उत्थान-पतन और महाकालकी भविष्यकी कार्य-परम्परा (जो कि समुद्रके गर्जनके सहित उठती और गिरा करती है) : इसी महान् कल-सङ्गीतके स्वरमे उनका वैयक्तिक विराग-अनुराग बजा करता है। उनकी कहानी जब गीत बन जाती है तब रुद्र-वीणाके एक तारमे मूल रागिणी बजती है और बजानेवालेकी शेष चार अँगुलियाँ पिछले मोटे-पतले सब तारोंमें निरन्तर एक विचित्र, गम्भीर और बहुत दूर तक फैलनेवाली झङ्कारको जाग्रत् कर देती हैं।

मनुष्यके साथ कालकी यह गति हमें प्रतिदिन दिखाई नहीं देती। यदि इस प्रकारका जातिके इतिहासको बनानेवाला कोई महापुरुष हमारे सम्मुख विद्यमान हो, तो भी छोटेसे वर्तमान कालके अन्दर वह और बृहत् इतिहास एक साथ हमारे दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इसलिए, सुयोगके होते हुए भी, इस प्रकारके व्यक्तियोंको हम कभी ठीक तरहसे उनकी यथार्थ प्रतिष्ठा-भूमिपर उपयुक्त भावसे नहीं देख सकते। उनको यदि हम एक-मात्र व्यक्तिविशेषके रूपमें नहीं, परन्तु, महाकालके एक अङ्गके रूपमें देखना चाहें, तो उनसे दूर खड़ा होना पड़ता है,—अतीतके अन्दर उनकी स्थापना करनी पड़ती है, वे जिस महान् रंग-भूमिके नायक थे उसको और उनको मिलाकर देखना पड़ता है।

हमारा अपने प्रतिदिनके साधारण सुख-दुःखसे दूर हो जाना, अर्थात् हम जब नौकरी करके रो-गाकर खा-पीकर समय बिता रहे हैं, उस समय,

संसारके राज-पथपरसे जो बड़े बड़े सारथी काल-रथको चलाते हुए जा रहे हैं उनकी क्षण-कालके लिए उपलब्धि करके क्षुद्र परिधिसे मुक्ति प्राप्त कर लेना; यही इतिहासका वास्तविक रसास्वाद है।

यह बात नहीं है कि इस तरहकी घटनायें आद्यन्त कल्पनाके द्वारा नहीं बनाई जा सकती; किन्तु, जो स्वभावतः ही हमसे दूरस्थ है, जो हमारी अभिज्ञतासे बाहर है, उसे किसी बहानेसे यदि हम प्रकृत घटनाके साथ मिला दें, तो लेखकोंके लिए पाठकोंके हृदयमें विश्वास उत्पन्न करना सुगम हो जाता है। रसकी सृष्टि ही उद्देश्य है, अतएव उसको उत्पन्न करनेके लिए ऐतिहासिक उपकरणोंकी जिस मात्रामें आवश्यकता होती है कवि लोग उतनी ले लेनेमें किसी प्रकारका संकोच नहीं करते।

शेक्सपिअरके 'एण्टनी और क्लियोपेट्रा' नाटकका जो मूल व्यापार है, वह संसारके लिए एक प्रतिदिनका परीक्षित और परिचित सत्य है। बहुतसे अप्रसिद्ध, अज्ञात और सुयोग्य पुरुषोंने मुग्धकारिणी नारीके माया-जालमें अपने इहलोक और परलोकको बिगाड़ लिया है। इस प्रकारके क्षुद्रमहत्त्व और मनुष्यत्वके शोचनीय भग्नावशेषोंसे संसारका रास्ता भरा हुआ है।

हमारे लिए सुप्रत्यक्ष नर और नारीकी विष तथा अमृतमयी प्रणयलीलाको कविने एक विशाल ऐतिहासिक रंग-भूमिके अन्दर स्थापित करके उसे विराट् बना दिया है। हृदयके विप्लवके पश्चात् राष्ट्र-विप्लव उमड़ता है। प्रेम-द्वन्द्वके साथ एक बन्धनके द्वारा बद्ध रोममें परस्पर फूट डालनेवाली प्रचण्ड युद्धकी तैयारी होती है। एक ओर क्लियोपेट्राके विलास-भवनमें वीणा बज रही है और दूसरी ओर दूर समुद्रके किनारेसे भैरवकी संहार-भेरी उसके साथ स्वर मिलाकर और भी ज़ोरसे बज उठती है। कविने आदि और करुण रसके साथ ऐतिहासिक रसको मिला दिया है, इसलिए, उसमें एक चित्तको विस्मयमें डालनेवाली दूरता और बृहत्ता मिल गई है।

इतिहासवेत्ता फ्रीमेन यदि शेक्सपिअरके इस नाटकपर प्रमाणोंका तीक्ष्ण प्रकाश डाले तो सम्भवतः इसमें बहुतसे काल-विरोध दोष (anachronism) और ऐतिहासिक गलतियाँ दिख सकती हैं, किन्तु, शेक्सपिअरने पाठकोंके मनपर जो जादू कर दिया है, भ्रान्त और विकृत इतिहासके द्वारा भी जिस ऐतिहासिक

रसकी अवतारणा की है, वह इतिहासके नये नये सत्योके आविष्कृत होनेपर भी नष्ट नही होगी।

इसलिए, इससे पहले हमने किसी समालोचनामें लिखा था—"उपन्यासके अन्दर इतिहासके मिल जानेसे जो एक विशेष रस सञ्चरित हो जाता है, उपन्यास-कार एक-मात्र उसी ऐतिहासिक रसके लालची होते हैं, उसके सत्यकी उन्हे कोई विशेष परवाह नही होती। यदि कोई व्यक्ति उपन्यासमे इतिहासकी उस विशेष गन्ध और स्वादसे ही एक-मात्र सन्तुष्ट न हो और उसमेसे अखण्ड इतिहासको निकालने लगे, तो वह सागके बीचमें साबित जीरे, धनिये, हल्दी और सरसो ढूँढ़ेगा। मसालेको साबित रखकर जो व्यक्ति सागको स्वादिष्ट बना सकते हैं वे बनाएँ, और जो उसे पीसकर एक-सम कर देते हैं, उनके साथ भी हमारा कुछ झगड़ा नही। क्योंकि, वहाँ स्वाद ही लक्ष्य है, मसाला तो उपलक्ष्य है।"

अर्थात्, लेखक चाहे इतिहासको अखण्ड रखकर रचना करे या तोड़-फोड कर, यदि वे ऐतिहासिक रसकी अवतारणा कर सकें, तो उन्हें अपने उद्देश्यमे कृतकार्य समझना चाहिए।

इसलिए, यदि कोई रामचन्द्रको नीच और रावणको साधुके रूपमे चित्रित करे, तो क्या कोई दोष न होगा? दोष होगा; किन्तु वह दोष इतिहासके पक्षमे नही होगा, काव्यके पक्षमे ही होगा। सर्वजनविदित सत्यको एकदम उलटा कर देनेसे रस-भङ्ग हो जाता है; मानो, पाठकोंके सिरपर एकदम लाठी पड़ जाती है। उसकी एक ही चोटसे काव्य एकदम चित होकर गिर जाता है।

इतना ही क्यो, यदि किसी झूठी बातको भी देरसे सर्वसाधारण लोग सत्य मानते हुए चले आ रहे हो और यदि इतिहास और सचाईके लिए काव्य इसके विरोधमें हस्तक्षेप करे, तो यह काव्यका दोष होगा। कल्पना कीजिए कि यदि आज बिना किसी सन्देहके यह सिद्ध हो जाय कि मदिरासक्त अनाचारी यदु-वंश ग्रीक-जातीय था और श्रीकृष्ण स्वाधीनतापूर्वक वनोमे घूमने और बाँसुरीको बजानेवाला ग्रीसका एक ग्वाला था, यदि यह सिद्ध हो जाय कि उसका रंग उसके बड़े भाई बलदेवके रंगके समान गोरा था, यदि यह प्रमाणित हो जाय कि निर्वासित अर्जुन एशिया माइनरके किसी ग्रीक-राज्यसे यूनानी राजकन्या सुभद्राको हरकर लाया था और द्वारका समुद्रतटवर्ती एक ग्रीक उपद्वीप था, यदि यह

प्रमाणित हो जाय कि निर्वासनके समय पाण्डवोंने रणके विज्ञानको विशेष तौरपर जाननेवाले प्रतिभाशाली ग्रीक वीर कृष्णकी सहायतासे अपने राज्यका उद्धार किया था और उसकी अपूर्व विजातीय राजनीति, युद्ध-नैपुण्य और कर्म-प्रधान धर्मतत्त्वसे विस्मित होकर भारतवर्षने उसको अवतार मान लिया था, तो भी वेदव्यासका महाभारत विलुप्त नहीं होगा और कोई नवीन कवि साहसपूर्वक कालेको गोरा नहीं बना सकेगा।

हमने ये बातें मामूली तौरपर कही हैं। नवीन बाबू और बङ्किम बाबू अपने काव्य और उपन्यासोंमें प्रचलित इतिहासके विरुद्ध इतना दूर तक गये हैं या नहीं जिससे कि काव्य-रस नष्ट हो गया है,—इसका विचार उनके ग्रन्थोंकी विशेष आलोचनाके समय ही किया जा सकता है।

ऐसे समय हमारा क्या कर्त्तव्य है? हमें इतिहासको पढना चाहिए या 'आइवनहो'को पढ़ना चाहिए? इसका उत्तर अत्यन्त सुगम है। दोनोंको पढ़ना चाहिए। सत्यके लिए इतिहासको पढ़ना चाहिए और आनन्दके लिए 'आइवनहो'को पढ़ना चाहिए। 'कहीं हम भूलोंका ही ज्ञान न प्राप्त कर लें,' इस प्रकारकी सतर्कतासे जो व्यक्ति काव्यरससे अपने आपको वञ्चित रक्खेंगे, उनका स्वभाव सूखकर काँटा हो जायगा।

काव्यमें जो भूलें हमें मालूम पड़ेंगी, इतिहासमें हम उनका संशोधन कर लेंगे। किन्तु, जो व्यक्ति काव्य ही पढ़ेगा और इतिहासको पढ़नेका अवसर नहीं पाएगा, वह हतभाग्य है और जो व्यक्ति केवल इतिहासको ही पढेगा और काव्यके पढ़नेके लिए अवसर नहीं पाएगा, सम्भवतः, उसका भाग्य और भी मन्द है।

नाटक

महाकाव्य, नाटक और उपन्यास : तीनोकी रचना मनुष्य-चरित्रको लेकर होती है। किन्तु, इन तीनोंमें परस्पर बहुत भेद है।

महाकाव्य एक या एकसे अधिक चरित्र लेकर रचे जाते हैं। लेकिन, महाकाव्यमें चरित्र-चित्रण प्रसंग-मात्र है। कविका मुख्य उद्देश्य होता है उस प्रसंग-क्रममें कवित्व दिखाना। महाकाव्योंमें वर्णन ही (जैसे प्रकृतिका वर्णन, घटनाओंका वर्णन, मनुष्यकी प्रवृत्तियोका वर्णन) कविका प्रधान लक्ष्य होता है, चरित्र उपलक्ष्य मात्र होते हैं, जैसे रघुवंशमें। रघुवंशमें यद्यपि कविने प्रसंगवश चरित्रोकी अवतारणा की है, परन्तु, उनका प्रधान उद्देश 'कुछ वर्णन करना' है। अजके विलापमें इन्दुमतीकी मृत्यु उपलक्ष्य-मात्र है, क्योंकि वह विलाप जैसे अजके सम्बन्धमें है वैसे ही अन्य किसी प्रेमी पतिके सम्बन्धमें भी हो सकता है। वहाँ कविका उद्देश चरित्रकी कोई विशेषता न रखकर प्रियजनके वियोगमें शोकका वर्णन करना और उस वर्णनमें अपनी कवित्व-शक्ति दिखाना है।

उपन्यासमें कई चरित्र लेकर एक मनोहर कहानीकी रचना करना ही ग्रन्थकारका मुख्य उद्देश्य होता है। उपन्यासका मनोहर होना उस कहानीकी विचित्रताके ऊपर ही प्रधानरूपसे निर्भर होता है।

नाटक काव्य और उपन्यासके बीचकी चीज़ है। उसमे कवित्व भी चाहिए, और कहानीकी मनोहरता भी चाहिए। इसके सिवा उसके कुछ बँधे हुए नियम भी हैं।

पहले तो, नाटकमें कथाभागका ऐक्य (unity of plot) चाहिए। एक नाटकमें केवल एक ही विषय प्रधान वर्णनीय होता है, अन्यान्य घटनाओंका उद्देश्य केवल उस विषयको प्रस्फुटित करना होता है। उदाहरणके तौर पर

कहा जा सकता है कि उपन्यासकी गति आकाशमें दौड़ते हुए छोटे छोटे मेघ-खण्डोकी-सी एक ही ओरको होती है, लेकिन एक दूसरेके अधीन नहीं होती। नाटककी गति नदीके प्रवाहके ऐसी होती है, अन्यान्य उपनदियाँ उसमें आकर मिलती हैं, और उसे परिपुष्ट करती हैं। अथवा, उपन्यासका आकार एक शाखाके समान होता है,—चारों तरफ नाना शाखा-प्रशाखाएँ हैं और वहीं उनकी विभिन्न परिणति हो जाती है, किन्तु, नाटकका आकार मधु-चक्रके (=ममाखीके छत्तेके) ऐसा होता है जिसे एक स्थानसे निकलकर, फिर विस्तृत होकर, अन्तको एक ही स्थानमें समाप्त होना चाहिए। नाटकका मुख्य विषय प्रेम हो तो उस नाटकको प्रेमके परिणाममें ही समाप्त करना होगा जैसे 'रोमियो जूलियट'। मुख्य विषय लोभ हो तो लोभके परिणाममे ही नाटक समाप्त करना होगा जैसे 'मैकबेथ'। नाटकका विषय महत्त्वाकाङ्क्षा हो तो उसके परिणाममें ही नाटककी परिणति होगी जैसे, 'जूलियस सीज़र'। नाटकका आरंभ प्रतिहिंसासे हो तो अंतमें प्रतिहिंसाका ही फल दिखाना होगा जैसे 'हैम्लेट।'

इसके सिवा नाटकका और एक नियम है,—महाकाव्य या उपन्यासका वैसा कोई बँधा हुआ नियम नहीं है, वह यह कि नाटकमें प्रत्येक घटनाकी सार्थकता चाहिए। नाटकके भीतर अवान्तर विषय लाकर नहीं रक्खे जा सकते,—सभी घटनाओं या सभी विषयोंको नाटककी मुख्य घटनाके अनुकूल या प्रतिकूल होना चाहिए। नाटकमें ऐसी कोई घटना या दृश्य नही होगा जिसके न रहनेपर भी नाटकका परिणाम वैसा ही दिखाया जा सकता हो। नाटककार अपने नाटकमे जितनी ही अधिक घटनाओंका समावेश कर सकता है उतनी ही अधिक उसकी क्षमता प्रकट हो सकती है और आख्यान-भाग भी उतना ही मिश्र हो सकता है, लेकिन, उन सब घटनाओकी दृष्टि मूल घटनाकी ओर ही होनी चाहिए; वे या तो मूल घटनाको आगे बढ़ा दे या पीछे हटा दें, तभी वह नाटक होगा, अन्यथा नहीं। उपन्यासमें इस तरहका कोई नियम नहीं है, महाकाव्यमें भी घटनाओकी एकाग्रता या सार्थकताका कुछ प्रयोजन नहीं है।

कवित्व नाटकका एक अंग है, परंतु, उपन्यासमें कवित्व न रहनेसे भी काम चल सकता है। नाटकमें चरित्र-चित्रणका होना आवश्यक है, पर, काव्यमें चरित्र-चित्रण न होनेसे भी काम चल सकता है।

नाटकका और एक प्रधान नियम है जो नाटकको काव्य और उपन्यास दोनोंसे अलग करता है, वह यह कि नाटकका कथा-भाग घटनाओंके घात-प्रतिघातसे अग्रसर होता है। नाटकका मुख्य चरित्र कभी सरल रेखामें नहीं जाता। जीवन एक ओर जा रहा था, ऐसे ही समय, धक्का लगकर उसकी गति दूसरी ओर फिर गई, उसके बाद फिर धक्का खाकर उसको दूसरी ही ओर फिरना पडा,; नाटकमें यही दिखाना होता है, उपन्यास अथवा महाकाव्यमें इसका कुछ प्रयोजन नहीं। यह बात अवश्य ही होती है कि हरएक मनुष्यका जीवन, वह चाहे जितना सामान्य क्यों न हो, किसी न किसी ओर कुछ न कुछ धक्का पाता ही है। किसी भी मनुष्यका जीवन एकदम सरल रेखामे नही जाता।—एक आदमी खूब अच्छी तरह लिख-पढ़ रहा था, सहसा पिताकी मौत हो गई, उसे लिखना-पढ़ना छोड़ देना पड़ा। किसीने ब्याह किया, उसके कई बच्चे हो गये, और तब उसे अर्थ-कष्टके कारण नौकरी या दास-वृत्ति स्वीकार कर लेनी पडी।—प्रायः प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें इस तरहकी घटना-परंपरायें देख पडती हैं। इसी कारण किसी भी व्यक्तिके जीवनका इतिहास लिखा जायगा तो वह अवश्य ही कुछ न कुछ नाटकका आकार धारण करेगा। किन्तु, यथार्थ नाटकमें ये घटनायें ज़रा ज़ोर-दार होनी चाहिए। धक्का जितना अधिक और प्रबल होगा उतना ही वह नाटकके लिए उपयुक्त उपकरण होगा।

कमसे कम ऐसा दिखाना चाहिए कि नाटकके सब प्रधान चरित्र बाधाको लाँघ रहे हैं, या लाँघनेकी चेष्टा कर रहे है। जिसमें केन्द्रीय चरित्र बाधाको लाँघता है, उस नाटकको अँगरेज़ीमे कॉमिडी कहते है। बाधा लाँघते ही नाटक-की समाप्ति हो जाती है, जैसे दो जनोंका विवाह अगर किसी भी नाटकका मुख्य विषय हो, तो, जबतक अनेक प्रकारके विघ्न आकर उनके विवाहको संपन्न नही होने देते तभी तक वह नाटक चलता रहता है। इसके बाद ज्यों ही विवाह-कार्य संपन्न हुआ कि यवनिका-पतन हो जायगा।

अन्तमें, ऐसा भी हो सकता है कि बाधा न भी लाँघी जा सके,—बाधा लाँघनेके पहले ही जीवनकी या घटनाकी समाप्ति हो जाय और दुःख दुःख ही रह जाय। ऐसे स्थलमें, अँगरेजीमे जिसे ट्रेजिडी कहते हैं, उसकी सृष्टि होती है। जैसे, ऊपर कहे गये उदाहरणमें मान लीजिए, अगर नायक या नायिकाकी, अथवा

दोनोंकी, मृत्यु हो जाय या एक अथवा दोनों निरुद्देश हो जायँ। उसके बाद और कुछ कहनेको नही रह जाता। उस दशामें वही यवनिका-पतन हो जायगा।

मतलब यह कि सुखकी और दुःखकी बाधा और शक्तिके, चरित्र और बहिर्घटनाके, संघर्षणसे नाटकका जन्म है। उसमें युद्ध चाहिए,—वह चाहे बाहरकी घटनाओंके साथ हो और चाहे भीतरकी प्रवृत्तियोके साथ हो।

जिस नाटकमे अन्तर्द्वन्द्व दिखाया जाता है वही नाटक उच्च श्रेणीका होता है जैसे 'हैम्लेट' अथवा 'किग लियर'। बहिर्घटनाओंके साथ युद्ध दिखाना अपेक्षाकृत निम्न श्रेणीके नाटककी सामग्री है। ऐसे नाटक हैं 'ओथेलो' या 'मैकबैथ'। ओथेलोको इयागोने समझाया कि तेरी स्त्री भ्रष्टा है। वह मूर्ख वही समझ गया। उसके मनमें तनिक भी दुबिधा नही आई। 'ओथेलो' नाटकमें केवल एक जगहपर ओथेलोके मनमें दुबिधा आई है। वह दुबिधा स्त्री-हत्याके दृश्यमें देख पड़ती है। वहाँपर भी युद्ध प्रेम और ईर्षामें नही है,—रूप-मोह और ईर्षामे है। मैकबेथमे जो कुछ दुबिधा है, वह इस दुबिधाकी अपेक्षा कही ऊँचे दर्जेकी है। डंकनकी हत्या करनेके पहले मैकबेथके हृदयमें जो युद्ध हुआ था वह धर्म और अधर्ममे,—आतिथ्य और लोभमें हुआ था। परन्तु, 'किग लियर'का युद्ध और तरहका है, वह युद्ध ज्ञान और अज्ञानमें, विश्वास और स्नेहमें, अक्षमता और प्रवृत्तिमे है। हैम्लेटके मनमे जो युद्ध है वह आलस्य और इच्छामे,—प्रतिहिसा और सन्देहमें है। यह युद्ध नाटकके आरंभसे लेकर अन्ततक होता रहा है।

यह भीतरी युद्ध सभी महानाटकोंमें है। कोई भी कवि प्रवृत्ति और प्रवृत्तिके संघातमे लहर उठा सके बिना, विपरीत वायुके संघातसे प्रचण्ड बवंडर उठा सके बिना, चमत्कारयुक्त नाटककी सृष्टि नही कर सकता। अन्तर्विरोधके रहे बिना उच्च श्रेणीका नाटक बन ही नही सकता।

बाहरके युद्धसे नाटकका विशेप उत्कर्प नहीं होता। उसे तो ऐरे गैरे सभी नाटककार दिखा सकते है। जिस नाटकमे केवल उसीका वर्णन होता है, वह नाटक नहीं, इतिहास है। जिस नाटकमे बाहरके युद्धको उपलक्ष्य-मात्र रखकर मनुष्यकी प्रवृत्तियोका विकास दिखाया जाता है, वह नाटक अवश्य हो सकता

है, परन्तु, उच्च श्रेणीका नहीं। जो नाटक प्रवृत्तियोंका युद्ध दिखाता है वही उच्च श्रेणीका नाटक है।

उच्च श्रेणीके नाटकमें प्रवृत्ति-समूहका सामंजस्य अधिक परिमाणमें रहता है। जैसे साहस, अध्यवसाय, प्रत्युत्पन्नमतित्व इत्यादि गुणोका समवाय,—अथवा द्वेष, जिघासा, लोभ इत्यादि वृत्ति-समूहका समवाय, एक चरित्रमे रह सकता है।

अनुकूल वृत्ति-समूहके सामंजस्यकी रक्षा करके नाटक लिखना कठिन नहीं है। उसमें मनुष्य-हृदयके सम्बन्धमें नाटककारके ज्ञानका भी विशेष परिचय नहीं प्राप्त होता। आदर्श-चरित्रके सिवा प्रत्येक मनुष्य-चरित्र दोष और गुणसे गठित होता है। दोषोंको निकालकर केवल गुण ही गुण दिखानेसे अथवा गुणोंको छोड़कर दोष ही दोष दिखानेसे एक संपूर्ण मनुष्य-चरित्र नहीं दिखाया जा सकता। जो नाटककार एक आदर्श-चरित्र चित्रित करनेहीको बैठा हो, उसकी बात जुदी है, क्योकि, वह देव-चरित्र मनुष्यका चरित्र कैसा होना चाहिए, यही दिखाने बैठा है। वास्तवमे, वह नाटकके आकारमे धर्मका प्रचार करने बैठा है। मैं तो ऐसे ग्रंथोंको नाटक ही नहीं कहता,—धर्मग्रंथ कहता हूँ। ऐसा कवि, जितने प्रकारके गुण हो सकते हैं उन सबको एकत्र एक नाटकमें जितना दिखा सकता है, उतनी ही उसकी प्रशंसा है; किन्तु, उससे मनुष्य-चरित्रका चित्र नहीं अंकित होता।

विपरीत वृत्ति-समूहका समवाय दिखाना अपेक्षाकृत कठिन कार्य है। इसी जगहपर नाटककारका कृतित्व अधिक है। जो नाटककार मनुष्यके अन्तर्जगत्को खोलकर दिखा सकता है वही यथार्थमें सच्चा दार्शनिक कवि है। बल और दुर्बलताके, जिघासा और करुणाके, ज्ञान और विज्ञानके, गर्व और नम्रताके, क्रोध और संयमके, पाप और पुण्यके, समावेशसे ही यथार्थ उच्च श्रेणीका नाटक होता है। इसीको मैं अन्तर्विरोध कहता हूँ। मनुष्यको एक शक्ति धक्का देती है, और दूसरी एक शक्ति उसे पकड़कर रोके रखती है। घुड़सवारकी तरह कवि एक हाथसे चाबुक मारता है और दूसरे हाथसे रास पकड़े खींचे रहता है। ऐसे कवि ही महा दार्शनिक कवि कहलाते हैं।

नाटकमें एक गुण और रहना चाहिए। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या महाकाव्य,—कोई भी प्रकृतिका अतिक्रमण नहीं कर सकता। वास्तवमें सभी सुकुमार-कलाये प्रकृतिकी अनुगामिनी होती हैं। कविको अधिकार है कि वह प्रकृतिको सजावे या रंजित करे। किन्तु उसे प्रकृतिकी उपेक्षा करनेका अधिकार नहीं है।

कविता और कवि

अच्छा, तो कविताका स्वरूप क्या है ?

कविताका स्वरूप निर्णय करना कठिन ही नही, असंभव भी है, क्योंकि, कविताका आश्रय न तो कोई पदार्थ है और न सिद्धान्त,—वह तो एक प्रकारकी मन:स्थिति है जो जितनी ही अधिक अधिगम्य है उतनी ही कम विवेचनीय। हाँ, साधारण रूपसे हम कह सकते है कि कविता एक ऐसी शक्ति है जो गद्य और पद्य दोनोंमें अनुभूत हो सकती है, जो केवल शब्दार्थोंमें ही नही वरन् स्वरोंमे भी वर्तमान रहती है और जो नादके अतिरिक्त उन दृश्योसे भी अपना हृदय दिखानेके लिए फूट निकलती है जो वास्तु एवं स्थापत्यद्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं।

ऐसी मन:स्थितिकी,—ऐसी शक्तिकी परिभाषा न हो सकनेके कारण हमें उसका शुद्ध स्वरूप पहिचाननेके लिए बहुत कुछ अन्वय-व्यतिरिकसे काम लेना पड़ेगा और यह देखना पड़ेगा कि कौन-सी वस्तु कविता है और कौन-सी नही।

कविता 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'की समष्टि है।

इन तीनों गुणोंमें सौन्दर्य प्रधान है; क्योकि, कविताका धर्म आनन्द देकर हृदयको सुसंस्कृत और उत्तेजित करना है और आनन्दके अत्यधिक स्वरूपको ही 'सौन्दर्य्य'के नामसे पुकारा जाता है। अन्य ललित कलाओंके समान कविताका चरम उद्देश्य आनन्द प्रदान करना है और संसारमें मनुष्य-जीवनको किस प्रकार सुखी बनाया जाय, इस समस्याको सुलझाना है। कवितामे माधुर्य आदि गुण सत्य और सुन्दरको पर्य्याय बना देते हैं और यही कारण है कि वेदनात्मक चित्रण भी आनन्द-प्रद और सुखावह हो जाता है।

कविता जब सभी प्रकारका सौन्दर्य्य-चित्रण करती है तो शब्द-सौन्दर्य भी उससे बाह्य नहीं है और इसी कारण हमारे आचार्योंने अलङ्कार-शास्त्रको काव्य-शास्त्रका एक अंग मान लिया है।

मनुष्य एक प्रकारका वादन-यन्त्र है जिसपर सासारिक घटनाओंके घात-प्रतिघात अपना अलग ही स्वर छेडते हैं, (परन्तु हाँ, मनुष्य और वादन-यंत्रमें एक भेद भी है। पहला चेतन है और दूसरा जड़। पहलेमे, अर्थात् मनुष्यमें, एक ताल या स्वर-सिद्धान्त निहित है जो आन्तरिक घात-प्रतिघातसे उत्तेजित हो उठता है, दूसरेमे नही।) एक बालक अथवा एक अशिक्षित मनुष्य बाजेके स्वर-तालको न जानते हुए भी जब बैण्ड या और कोई बाजा बजता सुनता है तो दूर ही खड़ा खडा अपने पाँवकी एडीसे भूमिपर ताल देने लगता है। इसका कारण उस स्वर-सिद्धान्तके प्रति अनुकूलता है जो मनुष्यको सहृदय बनाती है।

सामाजिक बंधन अथवा वे नियम जिनके वशवर्ती होकर मनुष्य-समाज एक विशेष परिस्थितिमे पहुँच जाता है, सहवास और सहयोगकी भावनाको और भी उत्तेजन देते हैं। समता, एकता, विभिन्नता, विरोध, पारस्परिक आदान-प्रदान आदि भाव मनुष्यको सामाजिक बनाते हैं और उपर्युक्त भावोका किसी समाजमें एक उचित मात्रामे वर्तमान रहना उस समाजकी नैतिक उच्च स्थितिका द्योतक है तथा उन्हीके कारण हमें अनुभूतिमे आनन्द, भावोंमें नैतिकता, कलामें सौन्दर्य, विचारमे सत्यता तथा पारस्परिक आनन्द-प्रदानमे प्रेम देख पड़ता है। समाजमें जब एक मनुष्य दूसरेके राग एवं आनन्दका विषय हो जाता है तब उसके भाव और भी अधिक उत्तेजित हो उठते हैं, और वह व्यक्ति कलाकार कहलाने लगता है, और तब उसे एक जड़ बाजेपर नहीं, वरन्, चेतन हृदयके घात-प्रतिघातसे अभिभूत होना पडता है; फलतः भाषा, भाव-भंगी एवं इंगित आदि अभिव्यंजनाके माध्यम बन जाते हैं। और यही ललित कलाओंका मूल है।

गायन-वादन आदि ललित कलाके प्रत्येक प्रकारमें एक नियम,—एक rhythm निहित है जो नाचने, गाने और भाषामें सर्वत्र प्रकट होता है और जिसके वशवर्ती होकर श्रोताको विशेष आनन्द प्राप्त होता है। उक्त नियमके अनुकूल जो भाव मनुष्यमें उत्पन्न होता है वह 'अभिरुचि'के नामसे पुकारा जाता है। ललित कलाओंके आरम्भिक रूपमें सभी मनुष्य एक ऐसे ही नियमका अनुभव करते हैं। उस नियमके अन्तर्गत जो विभिन्नता होती है उसको पहिचानना बहुत ही कठिन है, विशेषतया तब जब कि उक्त प्रवृत्ति अधिकसे अधिक मात्रामें न हो। वह नियम सौन्दर्यमय है और जिस मनुष्यमें यह अधिकसे अधिक मात्रामें

पाया जाता है वह 'कवि' कहलाता है। सासारिक वस्तुओंको इस प्रकार सम्बद्ध करना और इस प्रकारसे एक दूसरेकी सुसङ्गति या तारतम्य बतलाना, जैसा कभी नहीं बताया गया है, कालान्तरमें वह मानसिक स्थिति उत्पन्न कर देता है जिसके कारण भाव-चित्र भाव-चिह्नमें परिवर्तित हो जाते हैं और यही कविताका मूल है।

कवि मनुष्योंको आकर्षित करनेके लिए अलंकारोंका प्रयोग करता है। क्योंकि, साधारण शब्द इतने निर्बल होते हैं कि वे गंभीर और उदार भावोका भार वहन नहीं कर सकते। साथ ही, अमूर्त भावोंको साकार करनेका और साधन ही नहीं है इसलिए अलंकारोंका साधन गौण होते हुए भी अनिवार्य हो जाता है। इस दृष्टिसे यह भी कहा जा सकता है कि छन्दका आवरण भी उचित रूपसे ही काव्यपर चढ़ाया गया है, क्योंकि, छन्द कविके अन्तर्नादका बाह्य स्वरूप है। अतएव, छन्दका प्रयोग भी कविकी प्रतिभाका परिचायक है न कि बाधक, क्योंकि, कवि उसे अपनी स्वतंत्र बुद्धिसे प्रयुक्त करता है। वह शाश्वत गान, जो कविके हृदयमे ध्वनित हो रहा है, अलंकारके वायुद्वारा संचालित होकर छन्दकी भित्तिपर प्रतिध्वनित होता है। कविता संगीतमय विचार है और कवि वह है जो संगीत-मय ढंगसे सोच सकता है।

कविके विचार और भाव रसोद्रेकद्वारा एक दूसरेसे संबद्ध रहते हैं। जिन्होने केवल अभ्यासद्वारा कविता सीखी है उनके लिए कविता करना एक गौण बात है। ऐसे कवि पहले अपने भावोंको गद्यमें नियत कर लेते हैं और फिर पद्यमें बदल देते हैं। परन्तु, सच्चा कवि अपने विषयको कवितामे ही देखता है। अभ्यास-द्वारा कविता करनेवाले कवियोकी कृतियोमे विचारकी प्रधानता होती है,—अलं-कारोंसे रस दब जाता है, क्योकि, उनका तो एकमात्र उद्देश्य यही है कि भावोंके आवरणमे अपने विचार उपस्थित करें, परन्तु, सहज कविकी कवितामें रसका अतिरेक होता है। वह विचारोको गौण स्थान देता है। उसकी कृतिमें अलं-कारोंको विशिष्ट स्थान नही मिलता। वह तो अपने भाव-प्रवाहमें विचारोंको बहा देता है। सच्चे कविकी पहिचान उसके विचारोंसे नहीं की जाती, परन्तु, जब उसके भाव रससे परिपुष्ट होकर अप्रतिहत गतिसे प्रवाहित होते हैं तभी वह सच्चा कवि कहा जाता है। उसका एक भाव ही दूसरे भावको जन्म देता है और दोनों एक साथ मिलकर तीसरेकी उत्पत्ति करते हैं, और, इसी प्रकारसे काव्य-

प्रवाह बह निकलता है। वह जब ऐसे शब्दोका प्रयोग करता है अथवा ऐसी विचार-शैली प्रदर्शित करता हैं जिसे हम अपनी उत्तेजित मनोवृत्तिके समय प्रयुक्त करते हैं तब वह कविताकी भाषामें बोलता है।

अतएव, कल्पनाद्वारा उत्तेजित घटना-चक्र और घटना-चक्रद्वारा उद्भासित कल्पना, इन दोनोंका आधिक्य एक महाकविके लक्षण हैं। विचार और भाव द्वितीय श्रेणीके कवियोके, तथा उक्ति तृतीय श्रेणीके कवियोकी लक्षण कही जा सकती है, क्योंकि, हमें स्मरण रखना चाहिए कि तुलसीदास इसलिए महाकवि हैं कि उनमे कथाकी काव्यात्मक घटनाओको देख लेनेकी शक्ति है और देखते भी वे इस प्रकार हैं जैसे वहाँपर उपस्थित ही हो। घटना ही नहीं, उसका वातावरण भी उनके मनोमंडलमे वर्तमान रहता है और वे जिस वस्तु या चरित्रका चित्रण करते हैं उसके प्रति उनका पूर्ण परिचय और सहानुभूति होती है। यही 'काव्य-गत सत्य' है। इस सत्यका जितना ही अधिक अंश किसी कविकी कृतिमें होगा वह उतना ही बड़ा कवि होगा। महाकवि वह है जिसकी कवितामे विचार, भाव, व्यक्तित्व, कल्पना, प्रवाह आदि अत्यधिक मात्रामें उपस्थित हों। ऐसे कवि विश्व-कवि कहे जाते है,—इसलिए नहीं कि वे सारे संसारमें प्रसिद्ध हैं, वरन्, इसलिए कि सारा संसार उनमें उपस्थित है।

कवियोंकी महत्ता उनकी मौलिकतासे नापी जाती है। मौलिकताका यह अर्थ नहीं है कि कवि अन्य मनुष्योसे भिन्न हृदय रखता हो। कवि मानव-समाजमे रहता है, घटना-चक्रों और पात्रोंके मध्यमें विचरण करता है और मनस्तुष्टिके लिए उनका चित्रण करता है। उसकी दशा उस मकड़ीकी भाँति होती है जो अपने पेटसे जाला निकालकर एक चक्र बना देती है। सभी स्थपति, चाहे जैसा उनको मकान बनाना हो, ईंट-चूनेका प्रयोग तो करेंगे ही। इसीलिए, कहा गया है कि सर्वोत्तम प्रतिभाशाली कवि सारे संसारका ऋणी होता है। कवि कोई विक्षिप्त मनुष्य नहीं होता जो, जो कुछ हृदयमें आवे, व्यक्त करता जाय; वरन्, उसका हृदय देश और कालके द्वारा सीमित तथा मर्य्यादित होता है। कवि प्रभात-कालमें उठकर यह नहीं सोचता कि आज मैं एक नवीन छन्द गढ़ूँगा, आज मै एक नवीन अलंकारका प्रयोग करूँगा, आज मै ऐसा भाव सोच निकालूँगा जिसे आज तक त्रैलोक्यमें किसीने न सोच पाया हो इत्यादि,

वरन् वह तो उस समय अपनेको विचार-प्रवाहमें बहता हुआ पाता है और वह प्रवाह समकालीन आवश्यकताओंसे प्रवाहित होता है। कवि उसी मार्गका अनुसरण करता है जिसपर सबकी दृष्टि पड़ती है और उसी दिशाको जाता है जिधर समाजका आदर्श निर्देश करता है।

प्रत्येक महाकविको साधन एकत्र किये हुए मिलते हैं और वह उनका उपयोग सचाई एवं सहानुभूतिके साथ करता है। 'नाना-पुराण-निगमागम-सम्मतं' तो उसके सम्मुख रहता ही है, साथ ही 'क्वचिदन्यतोऽपि' एकत्रित किया हुआ मिल जाता है। उसे कुछ भी ढूँढ़ने नही जाना पड़ता। अत्युक्ति न होगी यदि कहा जाय कि एक महाकवि अपनी सारी भाव-संपत्ति संसारसे इकट्ठा करता है क्योकि, उसका हृदय जनताके विचार-प्रवाहका माध्यम है। सारा संसार उसीका कार्य करता है और वह अपने मस्तिष्कके माध्यमद्वारा सारे प्राणियोके विचार व्यक्त करता है। तुलसीदासका उदाहरण सम्मुख है। यदि आप 'रामचरितमानस'को तुलनात्मक दृष्टिसे देखें तो आपको ज्ञात हो जायगा कि गोस्वामीजीने अपने पूर्ववर्ती रामायणकारोंके उत्तमोत्तम भावोको मुक्तकंठ होकर अपनाया है,—ऐसा कुछ लिखा ही नही जो पूर्ववर्ती कवियोकी दृष्टिमें न आया हो। इसपर भी संसार उन्हे महाकवि कहता है, और ठीक कहता है। रामायण तथा महाभारतके परवर्ती कवियोंमें सर्व-प्रथम अश्वघोष ही महाकाव्यकार माने जाते है, उनके अनन्तर कालिदास। अश्वघोषकी छाप स्पष्टरूपसे कालिदासपर है। इन दोनों महाकवियोंकी कृतियोमे साम्य प्रायः सर्वत्र ही विद्यमान है। फिर भी कालिदास 'कविकुलगुरु'की उपाधिसे विभूषित किये गये हैं। यदि उनके पूर्ववर्ती अश्वघोषके अतिरिक्त अन्य कवियोंकी कृतियाँ उपलब्ध होतीं तो पता चल जाता कि कालिदासपर अन्य कितने कवियोका प्रभाव पड़ा।

कविता और समाजमे घनिष्ठ संबंध है। यद्यपि कविता किस प्रकार अपना प्रभाव प्रकट करती है, यह जानना कठिन है, क्योकि उसका प्रभाव लोकोत्तर एवं अलक्ष्य होता है; फिर भी, वह सदैव लोकोत्तर आनन्दकी देनेवाली है, समाजके मनुष्योपर उसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है और श्रोतागण उसके आनन्द-युक्त ज्ञानसे लाभ उठाते हैं। जिस प्रकार मानस-सरोवरमे हंस अपनी

ध्वनिसे पर्वतशिखरोंको निनादित करता रहता है उसी प्रकार कवि भी स्वच्छन्द विचरण करके अपने काव्यसे मानव-हृदयोंको उच्च और विशाल बनाता रहता है। वाल्मीकि-आश्रममें लव-कुशद्वारा पठित रामायणका प्रभाव वनसे फूट निकला और सारे संसारमे फैल गया। हमें कुछ भी संदेह नही है कि जिन जिन पुरुषोने प्राचीन समयमें रामायणका पारायण किया होगा वे अवश्य ही राम, भरत, आदिके चरित्रोसे इतने अभिभूत हुए होंगे कि वे उन्हीके चरित्रोंके अनुकरणमें लग गये होंगे,—उन्होंने जाना होगा कि हनुमानकी मैत्रीमे कितना सत्य और सौन्दर्य था, भरतकी भक्तिमे कितना गाम्भीर्य था। इससे श्रोताओंके मनोभाव विशाल और उदार हुए होंगे, और उनकी पूर्ण सहानुभूति विविध पात्रोके प्रति आदर और सद्भाव उत्पन्न करती होगी,—यहाँ तक कि सहानुभूति अनुकरणमें परिवर्तित हो गई होगी और अनुकरणद्वारा उन्होंने अपने आदर्शके प्रति तदाकार वृत्ति प्राप्त की होगी।

अब प्रश्न उठता है कि कविको कैसे भाव काव्य-बद्ध करने चाहिए? अथवा, सभी देशो तथा सभी कालोमें कविताके शाश्वत विषय क्या रहे है?

वे कार्य या घटनायें, जो मनुष्यकी मौलिक भावनाओंपर अपना पूर्ण प्रभाव डालती है, मनुष्य-जीवनमे सर्वत्र विद्यमान रहती हैं और समयका इनपर कोई प्रभाव नही पडता। चूँकि ये भावनायें शाश्वत और समान हैं, इसलिए, कविताके विषय भी शाश्वत और समान हैं। अतएव, किसी घटनाके प्राचीन या आधुनिक होनेसे कवितापर कुछ भी प्रभाव नही पड़ता। जो कुछ उच्च और महान् है वह हमारे हृदयको रुचिकर प्रतीत होता है और जो कुछ रुचिकर है वह काव्यका विषय है।

महाकवि जो कुछ कहता है वह तो विशाल होता ही है, जो नही कहता है वह अनुमानके द्वारा भी कठिनाईसे ग्राह्य होता है; उसकी वाचालता उच्च होती है और निश्शब्दता उससे भी अधिक गंभीर और उच्चतर। उसका काव्य प्रतिध्वनित करता है कि प्रकृतिमें अनेक प्रकारका सौन्दर्य विद्यमान है और सहस्रो प्रकारके दिव्य भाव दिखाई देते है,—इन देवताओंकी भक्ति जो जितना जी चाहे करके अपने उद्देश्यकी पूर्ति कर ले।

महाकवियोंकी महत्ताका विचार सहसा यह धारणा उत्पन्न करता है कि संसारको अकबरकी उतनी आवश्यकता नहीं जितनी कि तुलसीकी।

महाकविकी कृति कठिनसे कठिन और सरलसे सरल होती है। तुलसी बड़े ही गंभीर साहित्यकार हैं, परन्तु हैं सभीकी पहुँचके भीतर। उनमे कल्पना और कौशल चरम सीमाको पहुँच चुके हैं।

भाषा, वर्ण, स्वरूप, धर्म तथा सामाजिक नियम आदि सभी कविताके उप-करण हैं। परन्तु, यदि हम कविताको एक सीमित वस्तु मानते हैं तो कहना पड़ेगा कि काव्य शब्दोंका, अथवा भावोंका, एक विशेष आरोहावरोह, संगति, संक्रम या तारतम्य है जो मानव-हृदयके किसी गूढ़ अन्तस्तलसे उत्पन्न होता है और जिसकी उत्पत्ति भाषाकी प्रकृतिसे संबंध रखती है और भाषाकी प्रकृति हमारे राग-द्वेष, सुख-दुःख आदिसे संबद्ध होनेके कारण नाना प्रकारके आवरण धारण करती है। भाषा कल्पनाकी कन्या है जो विचारके साथ विवाहित की गई है। भाषा भाव तथा उसके अभिव्यंजनकी एकमात्र माध्यम है। ध्वनि, विचार और भाव पारस्परिक संबंध रखते है,—एकका प्रभाव दूसरेपर पड़ता है। इसीलिए, कवियोंकी भाषामें एक प्रकारकी समता और स्वरैकता सर्वत्र पाई जाती है जिसके बिना वह भाषा काव्य-भाषा नही रह जाती।

काव्यमें बार बार एक विशेष प्रकारकी ध्वनि या शब्दका उत्पन्न होना, और कविताका संगीतसे घनिष्ठ संबंध होना : इन दो कारणोंने छन्दकी उत्पत्ति की है, यद्यपि, यह आवश्यक नहीं है कि कविता छन्दोबद्ध ही हो, क्योकि, वास्तवमें सार्वदेशीय भावोंसे युक्त मनुष्य-जीवनकी झलकका नाम कविता है।

कविता एक ऐसा आदर्श है जो विकृतको भी सुन्दर और सुन्दरको सुन्दरतर बना देता है। कविता संसारके ज्ञानका सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है, अथवा, यो कहिए, कविता प्रथम और अंतिम ज्ञान है। अतएव, कविता लोकोत्तर सौन्दर्यसे कल्पनाको विभूषित ही नहीं करती वरन् संसारके दुःखोंसे निवृत्ति देकर एक भावना बन जाती है जो मानव-जीवनकी नैतिकताको व्यक्त करती है और ऐसे सत्य एवं पवित्र जीवनकी ओर आकर्षित करती है जो व्यावहारिक जीवनका आदर्श है।

कविताका कार्य द्विधा है। एक ओर तो वह ज्ञान, आनंद और शक्तिके साधन उत्पन्न करती है और दूसरी ओर उन साधनोंको एक तारतम्यमें व्यक्त करती है जिससे उनमें सौन्दर्य और अच्छाई आ जाती है। इस सौन्दर्यको

भावकी गति और भी तीव्र कर देती है। सामाजिक जीवनमें जब ऐसा काल आ जाता है कि लोग स्वार्थ और अनुदारताके सिद्धान्तोंसे दबने लगते हैं तथा बाह्य जीवनके उपकरण आन्तरिक जीवनके सौन्दर्यको दबा देते हैं, अथवा कोई ऐसी विशृंखलता उत्पन्न हो जाती है जो मानव-हृदयको असंतुष्ट और अधीर बना देती है, तब कविताकी उपयोगिता भली भाँति प्रकट होती है, क्योंकि उस समय शरीरके बोझसे आत्मा दब जाती है और सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जाता है। कविता ऐसे ही रोगोंकी ओषधि है।

कविता सत्यमेव दिव्य है। वह ज्ञानका केन्द्र भी है और वृत्त भी। यह वह विज्ञान है जिसके अन्तर्गत सारे विज्ञान हैं और सारे विज्ञान इस विज्ञानका मुँह ताकते हैं। कविता प्रत्येक प्रकारकी विचार-धाराओंका उद्गम और संगम-स्थान है। कवितासे सभी शास्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है और सभी शास्त्र कविताका आदर करते हैं। यदि काव्य-वृक्ष शुष्क हो जाय तो सुख-शान्तिकी छाया और फल हमें न प्राप्त हो सकें और जीवनकी प्रत्येक शाखा नीरस ज्ञात होने लगे। कविता सभी सासारिक पदार्थोंके गुणोंको बढ़ा देती है। जिस प्रकार गुलाबमें सुगन्ध रहती है अथवा सोनेमे सुवर्ण रहता है उसी प्रकार कविता साहित्य और समाजकी सुगन्ध और सुवर्ण है। यदि कवितामें वह उड़ान न होती जिससे वह ज्ञान और प्रकाश उस अन्तरिक्षसे खींच लानेमें समर्थ होती है जहाँ भाव और विचार पर तक नही मार सकते, तो सत्य-प्रेम, देश-प्रेम, भक्ति, मित्रता आदि सद्गुणोंको कौन पूछता ? नैसर्गिक दृश्योंसे कौन आकर्षित होता ? जीवनमें क्या रह जाता अथवा लोग मृत्युके अनन्तर किस बातकी आशा करते ?

उच्च कोटिकी कविता सीमा-रहित होती है। वह उस बीजके सदृश होती है जिसमे वृक्षका सारा स्वरूप निहित रहता है। एक आवरणके अनन्तर दूसरा आवरण हटाते चले जाइए, परन्तु, अन्तःस्थित सौन्दर्य्य नग्न नहीं किया जा सकता। महाकाव्य अथवा कोई भी उत्तम काव्य एक धाराके सदृश है जिसमें ज्ञान और आनन्दका नीर बहा ही करता है, जिसका उपयोग प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक युग करके दूसरे मनुष्यों और युगोंके लिए छोड़ जाता है। सारांश, कवियोंका प्रभाव समकालीन तथा परवर्ती समाजपर पड़ता है।

सर्वोच्च मस्तिष्कवाले मनुष्योंके सर्वोपरि विचारोंका नाम कविता है। हमें ज्ञात है कि समय-समयपर हमारे हृदयमें कितने ही विचार उठते हैं,—जो कभी कभी सासारिक विषयोंके होते हैं और कभी कभी अपने ही, जिनका उद्गम हम नहीं जान सकते,—यह नहीं ज्ञात होता कि वे कब हमारे मस्तिष्कमें आते हैं और कब निकल जाते हैं, लेकिन, वे हमें अनिर्वचनीय आनन्द दे जाते हैं, और वह इच्छा या पश्चात्ताप भी, जो वे पीछे छोड़ जाते हैं, हमारे आनन्दका कारण होता है।

ये विचार हमारे हृदयपर इस प्रकार अपने चिह्न डाल जाते हैं जिस प्रकार वर्षाऋतुकी नदी शरत्कालमें अपने किनारोंपर जल-प्लावनके चिह्न छोड जाती है। यह अथवा ऐसी ही अन्य मानसिक अवस्थाएँ केवल उन्हीं मनुष्योंद्वारा अनुभूत होती हैं जो सहज ही कोमल हृदय रखते है,—जिनकी कल्पना-शक्ति बहुत तीव्र होती है। और इस प्रकारकी मनःस्थिति मनुष्यके हृदयमें देवासुर-संग्राम उत्पन्न कर देती है। सत्य-प्रेम, देश-प्रेम, मैत्री आदिके भाव ऐसी ही मनःस्थितियोंसे संबद्ध रहते हैं। कवि उन भावोंसे अभिभूत ही नही होता वरन् उनको वह रँग भी देता है;—सासारिक आवरण चढ़ा देता है। उसका एक शब्द ही उन मनुष्योंके हृदयमें, जो इन भावोको अनुभूत किये हुए होते हैं, एक उत्तेजना उत्पन्न कर देता है जो कि उनके मस्तिष्कके समक्ष सुप्त भूत-कालको ला उपस्थित करती है। इस प्रकार, संसारमें जो कुछ सर्वोत्तम और सुन्दर है उसको कविता अमर बना देती है। मनुष्य-हृदयमे कभी कभी दिव्य भावोका संचार हुआ करता है और कविता उन भावोको अक्षुण्ण बनाये रखनी है।

कविता प्रत्येक वस्तुको सौन्दर्यमय जीवन प्रदान करती है, वह सुन्दरको सुन्दर-तर बनाती है, असुन्दरको सुन्दर कर देती है। विस्मय और भय, सुख और दुःख, क्षणिकता और अनन्तता, कविताद्वारा सबद्ध होते हैं। कविता सासारिक विभिन्नताओंमें एकता उत्पन्न करती है। कवि जो कुछ स्पर्श करता है उसे वह अपने ही स्वरूपमें परिवर्तित कर देता है और जिस भावका चित्रण करता है उसे अपनी सहानुभूतिके प्रसादसे वह वह रूप दे देता है जिससे वह साकार होकर नेत्रोंके सम्मुख उपस्थित हो जाता है। जीवनमे मृत्युके स्रोतसे जो विषाक्त पानी बहता है, कवि उसे अमृतमे परिवर्तित कर देता है,—जीवन अमर भासने लगता

है, समयकी सीमा टूट जाती है; परिचित ससारको अपरिचित-सा बना देता है और भावकी नग्न दिव्यता सम्मुख उपस्थित हो जाती है।

द्रष्टाकी दृष्टिमें सासारिक पदार्थ वैसे ही आते है जैसे कि वे हैं; परन्तु, कविकी दृष्टिमें वे पदार्थ अपना अलग ही अर्थ रखते हैं। मनुष्यका मस्तिष्क एक अनोखी वस्तु है,—वह स्वर्गको नरक और नरकको स्वर्ग बना देता है। कवि चाहे अपना ही रंग चढ़ाके उन पदार्थोंको दिखलाता हो और चाहे उनपरसे अज्ञानका परदा हटा लेता हो,—वह हमारे लिए तो एक आत्माके भीतर दूसरी आत्मा उत्पन्न कर देता है। वह हमें उस संसारका अधिवासी बना देता है जहाँ इस संसारकी वस्तुये अपरिचित ज्ञात होने लगती हैं,—वह एक ऐसा ससार उत्पन्न करता है जिसमें हम दृश्य और द्रष्टा दोनों बन जाते हैं तथा हमारी आन्तरिक दृष्टिपरसे परिचयका परदा हट जाता है जिससे हमें अपने ही अस्तित्वपर विस्मय होने लगता है। कविता हमें बाध्य करती है कि जो कुछ हम देखें उसका अनुभव करें, तथा जो कुछ हम जानते हैं उसकी कल्पना करें। नित्यश: हमारे विचार इस ससारको परिचित बनाते चले जाते हैं, यहाँतक कि हमारे हृदयमें ससारके प्रति कोई कल्पना ही नहीं उत्पन्न होती,—कवि इस लोकका विनाश करके हमारे हृदयमें एक नवीन लोक उत्पन्न कर देता है।

——

रसोंका संस्कार

अगर सोचा जाय तो सहजमें ही यह पता लग जाता है कि साहित्य, संगीत और कला : इन तीनोके ही भावना-क्षेत्र एक होनेसे इनमे एक ही वस्तु समाई हुई है। इस वस्तुको हम 'रस' कहते हैं। प्राचीन साहित्याचार्योंने रसका विवेचन कई रीतियोसे किया है। संगीतमें राग और तालके अनुसार रस बदलते हुए देखे गये हैं। चित्रकलामे नवरसोके भिन्न भिन्न प्रसंग तूलिकाके सहारे चित्रित किये जाते हैं। रेखाओ-द्वारा तथा विविध रंगोके साहचर्यसे रस व्यक्त किये जाते हैं; परन्तु, साहित्य, संगीत और चित्रकलाकी सामूहिक दृष्टिसे या जीवन-कलाकी समस्त सार्वभौमिक दृष्टिसे रसका अब तक किसीने विवेचन नहीं किया है।

काव्यकी आत्माको साहित्यकारोंने 'रस' कहा है। मेरे मतसे 'रस' शब्दकी रचना 'सृ-सर'के वर्ण-विपर्यय द्वारा (अक्षर उलट देनेसे) हुई है। वृक्षोंसे रस बहता है या झरता है, मुँहमें रस आता है; इसी तरहसे, जब हमारा हृदय पिघलकर किसी आकर्षक चीज़की तरफ स्रवित,—रसित होता है, तभी हम कहते हैं कि हमे इसमे रस आया और इसी तरह व्यक्तित्वका विकास हो सकता है।

पूर्वाचार्योंने जिन नव रसोंका विवेचन किया है, यह ज़रूरी नही है कि हम उनके वही नाम और उतनी ही संख्या मान लें। हमारे संस्कारी जीवनमें कलात्मक रस कौन-कौनसे हैं, अब इसकी स्वतंत्रतापूर्वक छान-बीन होनी चाहिए। साहित्याचार्योंने जो कुछ विवेचन किया है उसे ध्यानमे रखकर और उसका संस्कार कर उसको और भी अधिक व्यापक बनानेकी आवश्यकता है।

हमारे यहाँ शृङ्गार-रस 'रस-राज'की उपाधिसे अलंकृत किया गया है। यह सब रसोंका सरताज माना गया है। पर बात वास्तवमें ऐसी नहीं है। इसे हम सर्वश्रेष्ठ रस नहीं कह सकते।

प्राणि-मात्रमें स्त्री-पुरुषका एक-दूसरेकी तरफ आकर्षण होता है। सृष्टिने इस खिंचावको इतना अधिक उन्मादकारी बनाया है कि इसके आगे मनुष्यकी तमाम होशियारी, सारा सयानपन और संयम ग़ायब हो जाता है। इस आकर्षणको उत्तेजन देना आवश्यक है या नहीं, इस प्रश्नको हम यहाँ नहीं छेड़ना चाहते। पर, इस आकर्षण और प्रेमके बीचमें जो सम्बन्ध है उसे हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। स्त्री और पुरुषके आपसके आकर्षणमें यथार्थमें एक-दूसरेके प्रति प्रेम होता है या यों ही वे अहं-प्रेमकी तृप्तिके साधनके लिए एक-दूसरेको देखते हैं, पहले इसका निश्चय कर लेना चाहिए।

सृष्टिकी रचना ही कुछ ऐसी है कि काम-वृत्तिका आरम्भ अहं-प्रेम अर्थात् वासनासे होता है; लेकिन, काम अगर धर्मके पथसे चले तो वह विशुद्ध प्रेममें परिणत हो जाता है। विशुद्ध प्रेममे आत्म-विलोपन, सेवा और आत्म-बलिदानकी ही प्रधानता रहती है। काम विकार है; पर, प्रेमको कोई विकार नहीं कहता; क्योंकि, उसके पीछे हृदय-धर्मकी उदात्तता रहती है। यहाँ रूढ़ि-धर्म या शास्त्र-धर्मको मैं धर्म नहीं कहता। मेरा मतलब है आत्माके स्वभावानुसार प्रकट हुए हृदय-धर्मसे।

शृंगार आरम्भमें भोग-प्रधान होता है, पर, हृदय-धर्मकी रासायनिक क्रियासे वह भावना-प्रधान बन जाता है। यह रसायन और परिणति ही काव्य और कलाका विषय हो सकती है; इसे हम 'प्रेमरस' कह सकते हैं।

प्राचीन नाट्यकारोंने जिस प्रकार नाटकमें रंग-मंचपर भोजन करनेका दृश्य दिखलानेका निषेध किया है, उसी प्रकार भोग-प्रधान शृंगार-चेष्टाओंको भी खुल्लमखुल्ला बतलानेकी रोक-थाम कर दी है। यह तो कोई नहीं कहता कि नाट्यशास्त्रकारोंको खाने-पीने आदिसे घृणा थी। देह-धर्मके अनुसार इन वस्तुओंके प्रति स्वाभाविक आकर्षण तो रहता ही है, पर, ये प्रसंग और ये आकर्षण कलाके विषय नहीं हो सकते। कलाकृतिमे इन वस्तुओंके लिए कोई स्थान नहीं है, यह सिद्ध करनेके लिए किसी तरहकी वैराग्य-वृत्तिकी ज़रूरत नहीं,—हममें सिर्फ़ यथेष्ट संस्कारिता होनी चाहिए। मध्य-योरपके एक मित्रने विगत महायुद्धके बादकी गिरी हुई दशाका वर्णन करते हुए लिखा था कि अब वहाँ भोजनके आनन्दपर भी कवितायें बनने लगी हैं! हमारे नाट्य-शास्त्रमे शृंगार-चेष्टाओंके प्रति सयम

रखनेका जो इशारा है, उसकी अब योरपके अच्छेसे अच्छे कला-रसिक प्रशंसा करने लगे हैं।

हम 'प्रेम-रस'का शुद्ध वर्णन भवभूतिके 'उत्तर-रामचरित'में पाते हैं। 'शाकुं-तल'में प्रेमके प्राथमिक शृंगारका स्वरूप भी है और अन्तका परिणत शुद्ध प्रेम-रसका रूप भी है। सच पूछो तो प्रेमको ही 'रसराज'की पदवीसे विभूषित करना चाहिए। शृंगारको तो केवल उसका आलम्बन-विभाव कह सकते हैं। शृंगारके वर्णनसे मनुष्यकी चित्त-वृत्ति सहजमें ही उद्दीपित की जा सकती है। इस सहू-लियतके कारण सभी देशों और सभी कालोंकी कलामें शृंगार-रसकी प्रधानता पाई जाती है। जैसे ऋतुओंमे वसंत उन्मादकारी है, उसी तरह रसोंमें शृंगार। जिस तरह लोगोंकी या व्यक्तिकी खुशामद करके बातचीतका रस बडी आसानीसे निभाया जा सकता है, उसी तरह शृंगार-रसको जाग्रत् करके बहुत ओछी पूँजीसे आकर्षण करनेवाली कृतिका निर्माण किया जा सकता है।

सच्चे प्रेम-रसमें अपना व्यक्तित्व खोकर दूसरेके साथ तादात्म्य भावका (=सम्पूर्ण अभेद-भावका) अनुभव करना होता है। इसीलिए, उसमें आत्म-विलोपन और सेवाकी प्रधानता होती है। प्रेम तो आत्माका गुण है। अत: देहके ऊपर उसकी हमेशा विजय होती है। प्रेम ही आत्मा है। अमर प्रेमसे आत्मा कभी भिन्न नहीं है। इस बातकी सभी प्रेमियों, भक्तो और वेदान्ती दर्शनकारोंने स्पष्ट घोषणा की है।

वीर-रस भी अपने शुद्ध रूपमें आत्म-विकासको सूचित करता है। सामान्य स्वस्थ स्थितिमें रहनेवाला मनुष्य अपने आत्म-तत्त्वको प्रकट नहीं कर सकता, क्योकि, वह शरीरके साथ एकरूप रहता है। जब किसी असाधारण प्रसंगके कारण खरी कसौटीका समय आता है तब मनुष्य अपने शरीरके बन्धनसे ऊँचा उठता है। इसीमें वीर-रसकी उत्पत्ति है।

वीर-रसमें प्रतिपक्षीके प्रति द्वेष, क्रूरता, अहंकारका प्रदर्शन आदि आवश्यक नहीं हैं। लोक-व्यवहारमें अक्सर ये हीन भावनाएँ मौजूद रहती हैं। कभी कभी शायद ये ज़रूरी भी हो पड़ती हैं; लेकिन, यह ज़रूरी नही है कि साहित्यमे भी इनका स्थान हो। साहित्य कुछ वास्तविक जीवनका सम्पूर्ण फोटोग्राफ नहीं होता। जितनी वस्तुओंकी तरफ़ ध्यान खींचना आवश्यक होता है, साहित्यमें उन्हींकी

चर्चा की जाती है। इष्ट वस्तुको आगे रखना और अनिष्ट वस्तुको दबाना साहित्य तथा कलाका ध्येय है। इस पुरस्कार और तिरस्कारके बिना कलाका ठीक ठीक विकास नहीं होने पाता। साहित्यमें वीर-रसको जिन चीज़ोंसे हानि पहुँचती हो उन्हें साहित्यमेंसे निकाल डालना चाहिए। तभी वह कलापूर्ण साहित्य होगा।

लोक-व्यवहारमें भी वीर-रस एक सीमा तक आर्यत्वकी अपेक्षा रखता है। पशुओंमें जोश होता है, पर वीर्य नहीं होता। वे जब जोशमें आकर आपेसे बाहर होते हैं तब आपसमें अंधाधुंध लड़ पड़ते हैं; यही उनकी पशुता है। पर, कहीं जरा-भी भयका संचार हुआ कि दुम दबाकर भागनेमें भी उन्हे देर नहीं लगती, और भयकी लज्जाका भाव तो वे जानते ही नहीं। भयकी लज्जा तो आत्माका गुण है। जानवरोंमें इसका विकास नहीं होता। आवेश हो या न हो, लेकिन, तीव्र कर्तव्य-बुद्धि अथवा आर्यत्वके विकसित होनेके कारण मनुष्य भयपर विजय पा लेता है।

आलस्य, सुखोपभोग, भय, स्वार्थ : इन सबका त्याग कर, देह-रक्षाकी चिन्तासे निर्मुक्त हो, जब मनुष्य अपना बलिदान करनेके लिए तैयार हो जाता है तभी वह जड़के ऊपर,—अपनी देहपर, विजय पाकर आत्म-गुणोंका उत्कर्ष स्थापित करता है। ऐसा वीर कर्म,—ऐसी वीर-वृत्ति देखनेवाले या सुननेवालेके हृदयमें वीर-भावको जाग्रत् करती है, और इसीमे वीर-रसका आकर्षण और उसकी सफलता है।

हमारे पास कोई रक्षक वीर पुरुष खड़ा है, इसलिए, हम बेफिक्र हैं, सही-सलामत हैं, भयका कोई कारण नहीं;—इस तरहकी तसल्ली दुर्बलों और अबला-ओंको होती है। इसे कुछ वीर-रसका सर्वोच्च परिणाम नहीं कह सकते।

जिस ज़मानेमे मनुष्य अपनी देहका मोह करनेवाला, फूँक फूँककर कदम रखनेवाला और घर-घुसा बन जाता है, उस ज़मानेमें ही वह वीरोंका बखान कर और उन्हे बहादुरीकी सबसे ऊँची चोटी 'एवरेस्ट' पर चढ़ाकर उन्हींके हाथों अपना त्राण मानता है। ऐसेोंके समाजमे वीर-रसकी और वीर-काव्यकी जो चाह होती है,—जो प्रतिष्ठा होती है, उससे यह नहीं समझ लिया जाना चाहिए कि उस समाजमे आर्यत्वका उत्कर्ष होने लगा है। जब बम्बईमें लोकमान्य तिलकपर मुकदमा चल रहा था तब सारे मिल-मज़दूर दंगा करने

पर उतारू हो गये थे। उनकी हलचलसे घबराकर मध्यमवर्ग और व्यापारी वर्गके बहुतसे लोग घरोंके अन्दर जा घुसे और जब उस हलचलका दमन करनेके लिए सरकारी फ़ौज आई, तब वे मारे खुशीके हुर्रे-हुर्रेकी जय-ध्वनि करके अपने हाथोसे रूमाल उछालने लगे। उन्होने उन सैनिकोंका सहर्ष स्वागत किया और उस वक्त उनके मुखसे जो 'वीर-गान' निकला उससे उस समाजमें कुछ वीरत्वका भाव जाग्रत् नहीं हुआ। यह हमारी आँखोदेखी घटना है और इसीलिए उसका असर हमारे दिलपर गहरी छाप छोड़ गया है।

वीर-रसकी क़द्र वीर करें, यह एक बात है, और शरणागत जन करें, यह दूसरी बात है। जो वीर है वह वीर-रसको हमेशा विशुद्ध और आर्योचित रखनेकी चेष्टा करता है। आश्रय-परायण व्यक्तिमे अपनी प्राण-रक्षाकी आतुरताके कारण आर्य-अनार्य-वृत्तिका विवेक नहीं रहता। वह अपने रक्षकके प्रति 'नाथ-निष्ठा' रखकर उसके तमाम गुण-दोषोको समान भावसे उज्ज्वल ही देखता है।

दुःखकी बात है कि वीर-वृत्तिमेसे कभी कभी वैर-वृत्ति भी जाग्रत् हो उठती है। इसका कोई इलाज न देखकर आर्य-धर्मकारोने इसकी मर्यादा बाँध दी है : 'मरणान्तानि वैराणि।' शत्रुके मरनेके बाद उसकी लाशको पैरसे ठुकराना, उसके टुकड़े टुकड़े करवा डालना, उसके सगे-सम्बन्धियों या आश्रितोंको दर दरका भिखारी बनाना, उनकी दुर्दशा करना और उनकी अनाथ स्त्रियोको बेइज़्ज़त करना,—यह सब आर्यवीरके लिए शोभावह नही है। इससे कुछ मृत शत्रुका अपमान नहीं होता, उलटे वीरत्वको ही बट्टा लगता है, सच्चे वीर यह भली भाँति जानते हैं। आर्य साहित्याचार्यो, कवियो और कलाकारोने पुकार पुकारकर कहा है कि शत्रुता ही करना है तो अपनी बराबरीके शत्रुको खोजकर करो, और हरानेके बाद सम्मान करके उसकी प्रतिष्ठा बनाये रक्खो, और इस तरह अपना गौरव बढ़ाओ।

वीर-वृत्तिका परिचय मनुष्यके साथ विरोध होने पर ही नहीं दिया जाता, सृष्टिके कुपित होने पर भी मनुष्य अपनी उस वृत्तिको विकसित कर सकता है। जब शत्रु सामने नंगी तलवार लिये खड़ा हुआ है तब अपने बचावके लिए मुझे अपनी सारी ताक़त बटोरकर उसका मुक़ाबिला करना होगा। इस मौक़ेपर,

अगर मैं लड़कू-वृत्ति न रक्खूँ तो जाऊँ कहाँ ? सिंहगढ़की दीवार पर चढ़कर उदयभानुके साथ संग्राम करनेवाले तानाजीकी सेना जब हिम्मत हारने लगी तब तानाजीके मामा सूर्याजीने तुरन्त ही दीवारके नीचे उतरनेकी रस्सी काट डाली। अमेरिका पहुँचनेके बाद स्पेनिश वीर अर्नेंडो कोर्टेज़ने अपने जहाज़ जला दिये। इस प्रकार जब पीठ फेरना असम्भव हो जाता है तब आत्म-रक्षाकी वृत्ति वीर-वृत्तिकी सहायक बन जाती है। जिसे अपनी जान ज़्यादा प्यारी होती है वह भी ऐसे मौक़ोंपर अधिक शूर बन जाता है। जब कोई मनुष्य पानीमें डूब रहा हो अथवा जलते हुए घरके अन्दरसे किसी असहाय बालकके चीख़नेकी आवाज़ सुनाई पड़ रही हो, उस समय अपने बचावकी, जीवनके जोखिमकी, ज़रा भी परवा न करके जो तेजस्वी पुरुष अपने हृदय-धर्मके प्रति वफ़ादार बनकर पानीमें या धधकती हुई आगमे कूद पड़ता है, वह अपनी वीर-वृत्तिका परम उत्कर्ष प्रकट करता है। माफ़ी माँगकर जीनेकी अपेक्षा फाँसीपर चढ़ जाना मनुष्य ज्यादा पसन्द करता है। करोड़ों रुपयेके लालचके वशमें न होकर केवल न्याय-बुद्धिको जो मनुष्य पहचानता है, वह भी अपने अलौकिक वीरत्व का परिचय देता है। इस दुनियाका चाहे जो हो, पर अन्तरात्माकी आवाज़से बेवफ़ा नहीं होऊँगा, ऐसी वीर-धीर-वृत्ति जिस मनुष्यमें स्वाभाविक होती है वही वीरेश्वर है।

किसीकी बहू-बेटी या स्त्रीका अपहरण करते समय भी बहुतसे बदमाश-गुण्डे विकारके वश होकर अपनी असाधारण बहादुरी व्यक्त करते देखे जाते हैं। बड़े बड़े डाकू भी अपनी जान हथेलीपर रखकर घरोंमें सेंध लगाते हैं, लूट-मार मचाते हैं, और जब पकड़े जाते हैं तब पुलिसके द्वारा प्राणान्त कष्ट पानेपर भी अपने षड्यन्त्रका भेद नहीं बतलाते। उनकी यह शक्ति हमें आश्चर्य-चकित ज़रूर कर सकती है, पर शरीफ़ लोगोंका धन-हरण या स्त्रीका अपहरण करनेकी नीचातिनीच वृत्तिसे प्रेरित इस बहादुरीकी कोई आर्य-पुरुष कद्र नहीं करता। डाकू भारीसे भारी डाके डालकर मिले हुए धनका एक भाग अपने आस-पासके प्रदेशके ग़रीब लोगोमे बाँट देते हैं और इस प्रकार लोकप्रिय बनकर पकड़नेवालोंको हरा देते हैं। कभी-कभी ऐसे डाकू और लुटेरे कुछ ख़ास ख़ास समाज-कंटक लोगोंको नष्ट कर देते हैं। इससे भी जनता ऐसे लोगोंकी दुष्टताको भूलकर

उनके गुणोंका बखान करने लगती है। यह काम चाहे जितनी स्वाभाविक क्यों न हो, फिर भी इससे समाजकी उन्नति होती है, यह कभी नहीं कह सकते। मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्रजीकी 'पाल्या हि कृपणा जनाः' यह उक्ति प्रजाके गौरवको नहीं बढ़ाती। जिससे लोक-हृदय उन्नत नहीं हो सकता, ऐसी कृतिमेंसे शुद्ध वीर-रसका उद्‌गम नही हो सकता। अकेली हिम्मत और सरफ़रोशी वीर-रस नहीं है। बेरहमीसे शत्रुके अंग-भंग करनेमें, उसके आश्रित जनोंकी फ़जीहत करनेमे, वैर-वृत्तिकी तृप्ति भले ही हो जाय; पर, इसमें न तो शूरता है, न वीरता है, न धीरता है और आर्यता तो होगी ही कहाँसे ?

योद्धामें लहू, मास और शरीरके छिन्न-भिन्न अवयवोंको देखनेकी टेव होनी ही चाहिए। वेदना और दुःख अपने हो या पराये, उन्हें सहन करनेकी शक्ति भी उसमे होनी चाहिए। शस्त्र-क्रिया करनेवाले डाक्टरोंमें भी इस शक्तिका रहना आवश्यक है। लोहूकी धारको देखकर कुछ लोगोको चक्कर क्यो आ जाता है, इसे मै अब तक भी नहीं समझ सका हूँ। मुझे स्वयं मास काटते या शस्त्र-क्रिया करते देखकर किसी किस्मकी बेचैनी नही मालूम होती। फिर भी, वीररसके वर्णनके सिलसिलेमें जब रण-नदीका वर्णन बाँचता हूँ तब उसमेंसे जुगुप्साको छोड़कर दूसरा भाव पैदा ही नही होता। खूनके कीचड़ और उसमें उतराते हुए नर-रुण्डोंके वर्णनसे वीर रसको किसी तरह पोषण मिलता है, यह अब तक मेरी समझमे नहीं आया है। युद्धमे जो प्रसङ्ग अनिवार्य हैं मनुष्य उनमेंसे भले ही गुजरे, किन्तु, जुगुप्सित घटनाओंका रसपूर्ण वर्णन करके उसीमें आनन्द मनानेवाले लोगोकी वृत्तिको तो विकृत ही कहना चाहिए। मनुष्यको खम्भेसे बाँधकर, उसपर अलकतराका अभिषेक कराके, फिर उसे जला देनेवाले और उसकी प्राणान्त चीख़ सुनकर खुश होनेवाले बादशाह नीरोकी बिरादरीमे हम अपनेको शुमार क्यो करायें ?

वीर-रस मनुष्य-द्वेषी नही है। वह परम कल्याणकारी, समाज-हितकारी और धर्मपरायण आर्य-वृत्तिका द्योतक है। उसका रूप यही होना चाहिए। वीर-रसके पोषण और सरक्षणका भार वीरोंके ही हाथमें होना चाहिए। वीर-वृत्तिको पहिचाननेवाले कवि, चारण और शायर जुदे हैं, और अपनी रक्षाकी तलाशमे रहनेवाले कायर और आश्रित जुदे हैं।

पुराने ज़मानेकी भली-बुरी सब वीर-कथाओंको हम पढ़ें ज़रूर, उन्हें आदरके साथ बाँचें भी, किन्तु, उनमेंसे हम पुरानी प्रेरणा नही ले सकते। उन लोगोंका वह प्राचीन संतोष हमे अपने लिए त्याज्य ही समझना चाहिए। जीवनमें वीरताके नये आदर्शोंको स्वतन्त्र रूपसे विकसित करना चाहिए; और उनके लिए आवश्यक पोषक तत्त्व प्राचीन कथाओमेसे, जितनी मात्रामें मिल सकें, अवश्य ही प्राप्त कर लेना चाहिए; परन्तु, वीर-रसके क्रूर या जीवन-द्रोही आदर्शोंमें हम फिसल न जायें। अगर जीवनमेंसे वीरता चली गई तो वह उसी क्षणसे सड़ने लगता है और अन्तमें उसमें एक भी सद्गुण नही टिकता; यह हमें नही भूलना चाहिए।

आधुनिक युगके कलाकारोंके अग्रणी श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरको एक बार जापानमें एक ऐसा स्थान दिखाया गया जहाँ जापानी वीर कट मरे थे। उस स्थान और उस घटना पर अपनी प्रतिभाका प्रयोग करके कोई भावपूर्ण कविता रचनेके लिए कविवरसे आग्रह किया गया। विश्वकविने वहाँ जो दो पंक्तियाँ लिखकर दे दीं, वे भारतवर्षके मिशन और मानव-जातिके भविष्यकी शोभा बढ़ानेवाली हैं। उनका भाव यह है कि 'दो भाई गुस्सेमें आकर अपनी मनुष्यताको भूल गये और उन्होने भू-माताके वक्षःस्थल पर एक दूसरेका खून बहाया। प्रकृतिने, यह देखकर, ओसके रूपमें अपने आँसू बहाये और मनुष्य-जातिकी इस रक्त-रंजित हत्याको हरी-हरी दूबसे ढँक दिया।'

शान्तिप्रिय, अहिंसापरायण, सर्वोदयकारी, समन्वयप्रेमी संस्कृतिका वीर-रस तो त्यागके रूपमें ही प्रकट होगा। आत्म-विलोपन, आत्मदान ही जीवनकी सच्ची वीरता है। इसमें असंख्य भव्य प्रसंग कलाके वर्ण्य विषय हो सकते हैं। ये प्रसङ्ग कलाको उन्नत करते हैं और प्रजाको जीवन-दीक्षा देते हैं। आज-कलके कलाकार जीवनके इस पहलूको विशेष रूपसे विकसित करते हैं या नही, इसकी जाँच मै अब तक नही कर सका हूँ, फिर भी, मै इतना तो जानता हूँ कि यदि भविष्यकी कला इस दिशाकी तरफ़ अग्रसर हुई तो निकट भविष्यमे वह असाधारण उन्नति कर सकेगी, और समाज-सेवा भी उसके हाथो अपने आप होगी।

जब भवभूतिने 'रस एक ही है और वह करुण है, और अनेक रूप धारण करता है' यह सिद्धान्त स्थिर किया तब उन्होंने करुण शब्दको उतना ही व्यापक

बनाया जितना कि 'कला' शब्द है। जहाँ हृदय कोमल हो, उन्नत हो, सूक्ष्मज्ञ हो, उदात्त हो, वहाँ कारुण्यछटा आयेगी ही। कारुण्यकी संभावना या समवेदना सार्वभौम होती है। इसके द्वारा हम विश्वात्मैक्य तक पहुँच सकते हैं,— करुण-रस ही रस-सम्राट् है।

परन्तु, यह आवश्यक नही है कि इस रसमे शोकका भाव होना ही चाहिए। वात्सल्य-रस, शांत-रस और उदात्त-रस,—ये करुणके ही जुदे जुदे पहलू हैं। बाकी अन्य सब रस, अन्तमे जैसे सागरमें नदियाँ समा जाती हैं वैसे ही, इस रसमें लीन हो जाते हैं। एक मित्रने इन सब रसोंके लिए, 'समाहित रस'का नाम सूचित किया, जो मुझे बहुत ठीक जँचा। पर इसमें शक है कि भाषामें यह सिक्का चल सकेगा या नहीं। सच पूछा जाय तो सब रसोकी परिणति योगमे ही है। योग अर्थात् समाधि,—समाधान,—सर्वात्म-एकताका भाव। अन्तमें, कलामें से यही वस्तु निकलेगी। यह योग ही कलाका साध्य और साधन है। दुर्भाग्यकी बात है कि योगका व्यापक अर्थ आजकलकी भाषामें स्वीकार नहीं किया जाता। नाक पकड़कर, पलथी मारकर और देर तक नीद लेकर बैठे रहना और भूखों मरना ही लोगोकी दृष्टिमे 'योग' रह गया है।

हमारे साहित्यकारोंने करुण-रसका बहुत सुन्दर विकास किया है। कालिदासका 'अज-विलाप' अथवा भवभूतिका 'उत्तर-रामचरित' करुण-रसके उत्तमसे उत्तम नमूने माने जाते हैं। भवभूति जिस समय करुण-रसका राग छेड़ता है, उस समय पत्थर भी रोने लगते है और वज्रका हिया भी पिघलकर पानी पानी हो जाता है। करुण-रस ही मनुष्यकी मनुष्यता है।

फिर भी, यह ज़रूरी नही है कि करुण-रसका उपयोग सिर्फ स्त्री-पुरुषके पारस्परिक विरह-वर्णनमें ही हो। माताका अपने बालकके लिए या किसीका अपने मित्रके लिए विलाप करने-मात्रसे भी करुण-रसका क्षेत्र संपूर्ण नहीं होता। अनन्तकालसे, हर एक युगमें और हर एक देशमें, प्रत्येक समाजमे, किसी न किसी कारणसे महान् सामाजिक अन्याय होते आये है। हज़ारो और लाखों लोग इस अन्यायके बलि होते आते रहे हैं। अज्ञान, दरिद्रता, उच्च-नीचभाव, असमानता, मात्सर्य और द्वेष इत्यादि अनेक कारणोसे और बिना कारण भी मनुष्य मनुष्य पर अत्याचार कर रहा है,—उसे गुलाम बना रहा है, चूस

रहा है और अपमानित कर रहा है। ये सभी प्रसंग करुण-रसके स्वाभाविक क्षेत्र हैं।

नल राजाके हंसको पकड़ने या एक सिंहके नंदिनी गौको धर दबोचनेके दुःखका वर्णन हमारे कवियोंने किया है। एक निषादने क्रौंच पक्षीके जोड़ेमेंसे एकको बाणसे भेद डाला तो वाल्मीकिकी शाप-वाणीने सारी दुनियाके हृदयको भेदकर इस अन्यायकी तरफ़ उसका ध्यान खींचा। इतना होते हुए भी पशु-पक्षियोंका या गाय-भैंसोंका सामुदायिक दुःख शायद अभी तक किसीने नहीं गाया है। मध्यम वर्गके लोग कभी कभी विधवाओंके दुःखोंका वर्णन करने लगे हैं; पर, उसमें भवभूतिका ओजगुण या वाल्मीकिका पुण्य-प्रकोप व्यक्त नहीं हुआ। करुण-रसका असर जितना होना चाहिए उतना नहीं हुआ। अतएव, हृदयकी शिक्षा और हृदय-धर्मकी पहिचान अपूर्ण ही रही है और इसीसे गाँधीजी जैसा व्यक्ति अस्पृश्यताके कारण अपने हृदयका क्षोभ प्रकट करता है, फिर भी, समाजके हृदय पर उसका काफी असर नही पड़ता,—अधिकांशमें वह अछूत ही रहता है। करुण रसमें केवल हृदयका पिघलना ही पर्याप्त नहीं है,—हृदयमें आग लगनी चाहिए और उससे जीवनमें आमूल क्रान्ति हो जानी चाहिए। जीवनके हरएक व्यवहारके लिए हृदय-धर्ममेंसे मनुष्यको एक नई कसौटी तैयार करनी चाहिए।

अगर यह कहा जाय कि प्राचीन लोगोंको हास्य-रसकी वास्तविक कल्पना तक नहीं थी तो इसमे कोई ज्यादा अतिशयोक्ति न होगी। ऊँचे दर्जेका हास्य-रस संस्कृत-साहित्यमें बहुत ही कम पाया जाता है, यद्यपि उसमें जहाँ तहाँ नर्म वचन (= परिहास) और सुन्दर चाटूक्तियाँ बिखरी पड़ी हैं और इसे मै अपनी संस्कृतिकी विशेषता समझता हूँ। पर अब हमारे साहित्यमें हास्य-रसके अनेक सफल प्रयोग होने लगे हैं, फिर भी, यही कहना पड़ता है कि नाटकोंमें पाया जानेवाला हास्य-रस अब भी बहुत सस्ता और साधारण कोटिका है। हमारे व्यंग-चित्रों और प्रहसनोंमें पाया जानेवाला हास्य-रस अब भी अधिकांशमें निम्नश्रेणीका है। आजकल प्रीति-सम्मेलनोंमें हास्य और वीर-रसके ही प्रयोग अधिक किये जाते हैं; क्योंकि उनमें सफलता विशेष मेहनतके बिना ही मिल जाती है, और उनकी तैयारी भी अनायास ही हो जाती है। उन पर

तालियाँ भी खूब पिटती हैं। परन्तु, इससे कलाकी प्रगति नही होती और प्रजा संस्कार-समर्थ भी नही बनती।

हमारे कलाकारोंने अद्भुत-रसका विकास किस रीतिसे किया, यह मुझे मालूम नहीं। पर, मेरे मतसे अद्भुत-रसकी उत्पत्ति भव्यतामेंसे ही होनी चाहिए। अन्यथा, मनुष्य जितना ही अधिक अज्ञानमें रहेगा उसे हरएक चीज़ उतनी ही अद्भुत मालूम होगी। अद्भुतका रूप ही ऐसा है कि उसके आगे कलाका-साधारण व्याकरण स्तम्भित हो जाता है। विजयनगर के आसपासकी पहाडियोंमे बडी बडी शिलाओंके जो ढेर पडे हैं उनमें किसी तरहकी व्यवस्था या समरूपता नहीं है, और वहाँ इसकी आवश्यकता भी नहीं दीखती। सरोवरके आकार, मेघोंके विस्तार, नदीके प्रवाहमें क्या कोई किसी तरहकी व्यवस्थाकी अपेक्षा रखता है? भव्य वस्तु अपनी भव्यता-द्वारा ही सर्वाङ्गपूर्ण होती है। नहरका व्याकरण नदीके लिए लागू नही होता। उपवनका रचना-शास्त्र महान् सघन वनके लिए उपयोगी नहीं होता। जो कुछ भी भव्य, विशाल, विस्तीर्ण, उदात्त, उन्नत और गूढ़ है वह अनन्तका प्रतिरूप है, और, इसीलिए, अपनी सत्तासे अत्यन्त रमणीय है।

अद्भुत, रौद्र और भयानक : इन तीनों रसोंका उद्गम एक ही जगहसे है। हृदयकी भिन्न भिन्न अनुभूतियोंके कारण ही ये जुदे जुदे नाम पड़े हैं। जब शक्तिके आविर्भावसे हृदय दब जाता है, अपनी लज्जा खो बैठता है, तब भयानक रसका निर्माण होता है, सिरपर लटकती हुई एक ऊँची चट्टानके नीचे हम खड़े हों तो उस समय हमारे मनमें यह विश्वास तो रहता है कि यह शिला हमारे सिरपर गिरनेवाली नहीं है; उलटे, आँधी-तूफानसे हमारी रक्षा ही करेगी। फिर भी, यदि वह कही गिर पड़े तो!—यह ख़याल मनमें आते ही हम दब जाते है। यह एक शक्तिका ही आविर्भाव है। पहाड़ जैसी लहरों पर तैरकर सफ़र करनेवाले जहाज़में बैठकर हम इस भावको एक भिन्न ही रीतिसे अनुभव करते हैं।

मनुष्य भव्य वस्तुके साथ अपना मुक़ाबिला करता ही रहता है। ऐसा करते करते जब वह थक जाता है तब उससे रौद्ररस प्रकट होता है और जब भव्यताकी नवीनता और उसका चमत्कार भुलाया नहीं जाता, तब अद्भुत-रसका

परिचय मिलता है। ये तीनो रस मनुष्यकी संवेदन-शक्तिके ऊपर निर्भर हैं। आकाशके अनन्त नक्षत्रोंको देखकर जानवरोंको कैसा लगता है, यह हम नही जानते। यदि बच्चोंको वह एक पालनेके चँदोवेकी तरह मालूम होता है तो प्रौढ़ खगोल-शास्त्रीको नित्य नूतन और बढ़ते हुए अद्भुत-रसका विश्वरूप-दर्शन जैसा लगता है।

अद्भुत-रसकी विशेषता यह है कि जिस तरह मेघका गर्जन सुनकर सिहको गर्जन करनेकी सूझती है, उसी तरह आर्य-हृदयको भव्यताका दर्शन होनेके साथ ही अपनी विभूति भी उतनी ही विराट्-भव्य करनेकी इच्छा होती है। अद्भुत-रसमें मनुष्यकी आत्मा अपनेको अद्भुततासे भिन्न नहीं मानती, पर एक खास तरहसे उसमें वह अपना ही प्रादुर्भाव देखती है। रौद्र या भयानकमें वह अपनेको भिन्न मानती है। इन दोनों मनोवृत्तियोंका जिसने अनुभव किया है, उसी कलाकारने एकाएक घोषित किया है कि शिव और रुद्र एक ही हैं, शान्ता और दुर्गा एक ही हैं। जो महाकाली है वही महालक्ष्मी और महासरस्वती है। श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन होते ही हनुमान्के भक्त-हृदयने स्वीकार कर लिया—

> 'देहबुद्ध्या तु दासोऽहम् जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
> आत्मबुद्ध्या त्वमेवाऽहम्, यथेच्छसि तथा कुरु॥'

[अर्थात् देह-दृष्टिसे मै आपका दास हूँ, जीव-दृष्टिसे आपका अंश हूँ, और आत्म-दृष्टिसे मैं आपका ही रूप हूँ। आप जो चाहे सो करें।]

इस अन्तिम चरणमें जो सन्तोष और आत्म-समर्पण है वही कलाके क्षेत्रमें शान्त-रस है। रौद्र, भयानक और अद्भुत : ये तीनों रस अन्तमें जब तक शान्त-रसमे न मिल जायँ, और हमारा समाधान न करें, तब तक इन्हें कोई रस कहेगा ही नही।

हिन्दीके मर्मी कवि*

अपेक्षाकृत आधुनिक समयके हिन्दी काव्य-साहित्यको पढ़ने पर मुझे मालूम हुआ कि उसकी तान, हिन्दुस्तानी ख्याल-टप्पोंकी तरह, अपने मानको छोड़कर जा रही है। अलङ्कार ही हो गये हैं लक्ष्य और मूर्ति हो गई है उपलक्ष्य।

कवि जब सत्यकी उपलब्धि कर लेता है, तब ही उसे समझ पड़ता है कि सत्यका प्रकाश सहज सुन्दर है। इसलिए, तब, वह सत्यके रूपको ही ले बैठता है, अलङ्कारोंके आडम्बरकी परवा नहीं करता। वैष्णव पदोमे पढा है कि राधाजीने जब कृष्णका मिलन चाहा तब गलेके हारका व्यवधान भी उन्हें सहन नही हुआ। इसका मतलब यही है कि कृष्ण उनके समीप एकान्त सत्य हैं, और उस सत्यकी प्राप्तिमें अलङ्कार केवल निरर्थक ही नहीं हैं, बाधारूप भी हैं।

जिस तरह संसारमें, उसी तरह साहित्यमें भी, विषयासक्त लोग हैं। विषयी लोगोंका लक्षण ही यह है कि वे सत्यको नही पा पाते, इसलिए, जड़ वस्तुको ही सब-कुछ समझ बैठते हैं। साहित्यमें भी जब 'रस'-वस्तुके प्रति स्वाभाविक ममता नहीं होती,—'दर्द' नहीं होता, तब कौशलके परिमाणको लेकर ही उसका मूल्य आँका जाता है। 'रस' साहित्यका आन्तरिक प्रकाश है और कौशल बाहरका उपसर्ग,—उसीको लेकर बाहरका वाहन भीतरके सत्यको ढँककर गर्व करता है। रसिक लोग इससे पीड़ित होते है और विषयी वाहवाही देते हैं।

---

* यह लेख विश्वभारतीद्वारा प्रकाशित 'दादू' (सत दादूकी जीवनी, रचना, आलोचन आदि) की भूमिका-रूपमें प्रकाशित हुआ है। जिन्हें हम हिन्दीके सन्त-कवि कहते हैं इन्हे ही इस लेखमें 'मर्मी कवि' या 'साधक कवि' कहा गया है। कबीर, दादू आदि इसी श्रेणीके कवि हैं।

एक दिन, जब मै अपरिचित हिन्दी-साहित्य-भाडारमे विशुद्ध रस-रूपकी खोज कर रहा था तब श्री क्षितिमोहन सेन महाशयके* मुँहसे बघेलखण्डके कवि ज्ञानदासके दो-एक हिन्दी पद सुने। बस, मैं कह उठा, 'लो, मैं पा गया,—असल चीज़, एकदम अन्तिम वस्तु,—जिसपर कोई अलंकार शोभा नहीं पा सकता!'

अलङ्कारोका स्वभाव ही यह है कि वे समय समय पर बदलते रहते है। बाज़ारमे कभी एक तरहका फैशन चलता है और कभी दूसरे तरहका। पहले अनुप्रासो और वक्रोक्तियोका बड़ा आदर था। पर, अब उनका थोडासा आभास ही चल सकता है,—अधिक सहन नही होता। किसी काव्यका पुराना साज देखकर ही पहिचाना जा सकता है कि वह पुराने ज़मानेका है। परन्तु जहाँ साज-सज्जाकी घटा नही है, सत्य अपने सहज रूपमें ही प्रकाशमान है, वहाँ कालका दाग़ पड़ेगा ही कहाँ?—वहाँ तो अलङ्कारोंके बाज़ारके चढ़ने-पडनेकी खबर ही नही पहुँचती! उसमें ऐसी मृत वस्तु है ही कहाँ जो समय पर बाज़ारका मार्का धोखा दे जाय?

जब ज्ञानदासकी कविता सुनी, तब बार बार यही बात मेरे मनमें आई कि अरे यह तो आधुनिक है! 'आधुनिक'से मेरा मतलब इस कालकी वस्तुसे नहीं है। मतलब सिर्फ यह है कि यह कविता हमेशा 'आधुनिक' है। कोई यह नही कह सकता कि 'अब इसका फैशन बदल गया है।'

क्षिति बाबूके द्वारा धीरे धीरे हिन्दीके और भी कितने ही साधक कवियोसे मेरा थोड़ा-सा परिचय हुआ। इस सम्बन्धमें अब मेरे मनमें कोई सन्देह नहीं रहा है कि हिन्दी भाषामे एक समय जिन गीतोके साहित्यका आविर्भाव हुआ था उसके गलेमें अमरत्वकी वरमाला पड़ी है। उनमें से इस समय बहुतसे अनादरकी आड़में छिपे पड़े हैं,—उनका उद्धार होना चाहिए और ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि जो लोग हिन्दी भाषा नहीं समझते हैं वे भी भारतवर्षके इस चिर-कालीन साहित्य पर अपने उत्तराधिकारका गौरव उपभोग कर सकें।

---

* सन्त-साहित्यके विशेषज्ञ, 'दादू' नामक ग्रन्थके लेखक और विश्वभारतीके विख्यात अध्यापक।

इन सब काव्योंमें जो रस इतना सघन होकर प्रकाशित हुआ है वह है भगवानके प्रति प्रेमका रस। मैंने यूरोपीय साहित्य में ईश्वर-सम्बन्धी थोड़ी-सी काव्य-रचनायें पढ़ी हैं। उनको पढ़ते समय बार बार यही ख़याल आया है कि मिज़राब ही कड़ी होकर आवाज़ कर रही है,—सितारके तार वैसे नही बज रहे हैं। इसीलिए ईसाई-धर्मकी सङ्गीत-पुस्तकें साहित्यके अन्तःपुरमें नही घुस पाई हैं,—गिरजाघरोंमें ही अटककर रह गई हैं। असल बात यह है कि शास्त्रके जो भगवान् धर्म-कर्मके काम आते हैं और जो सनातन-पन्थी धार्मिक लोगोंके ही भगवान् है, उनको लेकर आनुष्ठानिक श्लोक चल सकते हैं,—उनके अनेक मंत्र-तंत्र बने भी हैं, परन्तु, जिनको भक्त अपनी आत्माके भीतर सत्य करके देखते हैं, जो अहेतुक आनन्दके भगवान् हैं, गान उन्हींको लेकर गाये जा सकते हैं। सत्यकी पूजा सौन्दर्यमे है, विष्णुकी पूजा नारदकी वीणामें।

कवि वर्डस्वर्थने आक्षेप किया है कि जगत्के साथ हम लोग बहुत ही अधिक संलग्न,—अत्यन्त आसक्त हो रहे हैं; परन्तु, असल बात यह है कि जगत्के साथ हम बहुत कम संलग्न हैं। आज इसकी ज़रूरत है कल उसकी, आज यहाँ पुकार है कल वहाँ,—पूरा मन लगाकर पूरे विश्वको हम देखते ही नहीं। हमारी ज़रूरतोंके साथ उसका कुछ जुडा है, कुछ टूटा और कुछ विरुद्ध,—प्रतिदिनके इस लेन-देनके जगत्में हम लोगोंकी हिसाबी बुद्धि ही मनके और सब विभागोंको दबा रखकर अपना मुरब्बीपन जताती फिरती है। जो हिसाबी बुद्धि गिनती करती है, वज़न करती है, माप-जोख करती है, हिस्से करती है, उससे हम बहुत कुछ जानते हैं, उसके योगसे हम छोटे-बड़े नाना विषयोंमें सिद्धि-लाभ भी करते हैं।—अर्थात्, उसका क्षेत्र है लाभका क्षेत्र, विशुद्ध आनन्दका क्षेत्र नही।

मैंने (अपने अन्य लेखोंमें) समझानेकी चेष्टा की है कि जहाँ हम अपने स्वार्थोंके बाहर, प्रयोजनके बाहर, मनुष्यकी किसी वास्तव लाभ-हानिके बाहर, किसी 'एक'की पूर्णता हृदयके भीतर अनुभव कर पाते हैं वहीं हमें विशुद्ध आनन्द मिलता है। ज्ञानके क्षेत्रमें भी हमने इसका परिचय पाया है,—देखा है कि टुकड़े टुकड़े तथ्य मनके लिए बोझ है। ज्योही किसी एकमात्र तत्त्वमें वह विच्छिन्न 'बहु' हाथ आता है त्योंही हमारी बुद्धि आनन्दित होती है और

कह उठती है; 'पा लिया, सत्यको पा लिया।' इसीसे हम कहते हैं कि ऐक्य ही सत्यका रूप है और आनन्द ही उसका रस है।

अधिकाश लोगोको हम 'बहु'की भीड़में देखते हैं,—विपुल अनेकके बीच वे अनिर्दिष्टसे ही रहते हैं। जिस मनुष्यको हम चाहते हैं—जिससे हमारा प्रेम है, वह साधारण अनेकके बीच विशिष्ट एक होता है। इस सघन ऐक्य-बोधमें ही हमारा बन्धु हजारों अबन्धुओंकी अपेक्षा अधिक सत्य है। अपने बन्धुको जिस तरह हमने विशिष्ट एक करके देखा है, उसी तरह यदि हम विश्वके अन्तरतम 'एक'को भी स्पष्ट करके देख पावें तो हम समझ सकें कि वहाँ सत्य आनन्दमय है। हमारी आत्माके बीच उस 'एक'की उपलब्धि यदि वैसी ही सत्य प्रकाशित होती है तो, फिर, जीवनके सुख-दुःख, लाभ-हानिमें हमारे आनन्दका विच्छेद कभी घटित नहीं होता। जब तक यह उपलब्धि हमें नहीं होती तबतक हमारा चैतन्य इस विश्व-सृष्टिमें विच्छिन्न है, और, जब वह उस उपलब्धिको प्राप्त करता है तब अखण्ड भावसे वह उसी सृष्टि-सङ्गीतका ही अङ्ग हो जाता है। तब, केवल वह जानता ही नहीं है, केवल करता ही नहीं है,—तब वह समस्तके साथ सम स्वरमें और सम सङ्गीतमें बज भी उठता है।

सृष्टि और असृष्टिमें अन्तर यही है कि सृष्टिमे अनेक हम उस 'एक'को देखते है; और असृष्टिमें अनेक हम अपने विच्छिन्न अनेकत्वको ही देखते हैं। समाज है मनुष्यकी एक बड़ी सृष्टि,—उसमे प्रत्येक मनुष्य अन्य सबोंके साथ अपने सामाजिक एकत्वको देखता है; और, भीड़ या झुण्ड है असृष्टि,—उसमें प्रत्येक मनुष्य ठेलमठेल करता हुआ अपने आपको स्वतन्त्र,—सबसे भिन्न देखता है; और धक्कामुक्की है अनासृष्टि,—उसमे केवल पारस्परिक अनैक्य ही नहीं है, विरुद्धता भी है।—इमारत है सृष्टि, ईंटोका ढेर है असृष्टि और जब दीवाल भड़भड़ाकर गिर पड़ती है तब वह है अनासृष्टि।

यह ऐक्य वस्तुओंके एकत्र होनेमें नहीं है,—यह तो अनिर्वचनीय एक अदृश्य-सम्बन्धका रहस्य है। फूलके भीतर जिस ऐक्यको देखकर हम आनन्दित होते हैं वह उसके वस्तु-पिण्डमें नहीं है,—वह उसकी गहराईमें अन्तर्हित एक ऐसे सत्यमे है जो समस्त विश्व-भुवनमे एकके साथ दूसरेको

निगूढ सामंजस्यमें धारण किये हुए है। इसी सम्बन्धमे निहित सत्य मनुष्यको आनन्द देता है, और उसे भी सृष्टि-कार्यमे प्रवृत्त करता है।

मनुष्यके अन्तरवर्ती इस सृष्टिकर्त्ताने मध्ययुगके साधक-कवियोके भीतर जिनका स्पर्श पाया था वे शास्त्र-वर्णित भगवान् नही थे,—वे थे मनमे, प्राणमें और हृदयमें आविष्कृत अद्वैत परमानन्दरूप। इसलिए, मन्त्र पढ़कर उनकी पूजा नही हुई,—गानके द्वारा उनका आह्वान हुआ। जीवनमें प्रत्यक्ष-सत्य-रूपमे वे आविर्भूत हुए, इसीलिए, काव्यमें सहज सुन्दर रूपमें वे प्रकाशित भी हुए।

'सौन्दर्य-लक्ष्मी-स्तव'मे अँगरेज कवि शेलीने कहा है कि एक महती शक्तिकी छाया विश्वमें हम लोगोंके बीच बह रही है। वह छाया चञ्चल है, मधुर है, रहस्यमय है, और हम लोगोको प्रिय है। उसीके आविर्भावमे हमारी पूर्णता है, और अभावमे हमारा अवसाद। कवि कहते हैं कि बहुत-सी चेष्टायें की हैं उन्होने उसे जाननेकी कि क्या है वह वास्तवमे। जले हुए मकानोके शून्य कमरोंमे, गुफाओं और गिरि-गह्वरोमे, अन्धकारमे, भूत-प्रेतोंकी भी खोज करते हुए वे फिरे हैं, किन्तु, न तो मिला किसीका दर्शन और न मिली किसीकी आहट; अन्तमे, दक्षिण-समीरके आन्दोलनसे जब वन-वनमें प्राणोंकी गुप्त वाणी जागो जागो कर उठी थी,—ऐसे समय, एकाएक उनके अन्तरके मध्य इस सौन्दर्य-लक्ष्मीका स्पर्श हुआ।—मुहूर्त-भरमे उनका संशय नष्ट हो गया। शास्त्रोंके बीच जिन्हे नहीं खोज पाया वही चित्तमे पकड लिये गये,—जगत्के समस्त द्वन्द्वके भीतर 'एक'का प्रकाश हुआ। तब, कविने देखा, यहीपर जगत्की मुक्ति है, इसी महासुन्दरके बीच। गानेके रूपमे कविका आत्म-निवेदन, उसी समय, उच्छ्वसित हो उठा।

गानका सोता, हमारे सन्त कवियोके अन्तरमेसे, इसी तरह फूट पडा है। उन्होंने रामको,—आनन्दस्वरूप परम एकको, आत्माके मध्य पाया था। वे सब ही प्रायः अन्त्यज, समाजकी नीचेकी तलीके, थे; पण्डितोंके दकियानूसी बँधे हुए विचारोंके शास्त्र, धार्मिकोके बँधे हुए आचारोके नियम उनके लिए सुगम नहीं थे। बाहरी पूजाके मन्दिर उनके लिए बन्द थे, इसीलिए, अन्तरके मिलन-मंदिरकी चाबी उन्होंने पा ली थी। उन्होंने ऐसे कितने ही शास्त्रीय शब्दोंका अन्दाज़से व्यवहार किया है जिनका शास्त्रोंके साथ मेल नहीं खाता।

उनका यह प्रत्यक्ष उपलब्धिका 'राम' किसी पुराणमें नही है। तुलसीदास सरीखे भक्त कवि भी इन लोगोकी इस बन्धन-विहीन साधनासे बहुत ही नाराज़ थे। उन्होंने समाजके बाहरी घेरेमेंसे इन्हे देखा, वे इन्हें बिलकुल ही न पहिचान सके।

ये लोग एक खास तरहके आदमी थे। क्षिति बाबूके मुँहसे सुना है कि बंगालमें इनके दलके लोगोंको 'मरमिया' कहते है। इन लोगोंकी दृष्टि, इनका स्पर्श, मर्मगत होता है। इन लोगोके पास सत्यकी बाह्य मूर्ति नही होती, उसका मार्मिक स्वरूप होता है। जो लोग एक निर्दिष्ट बँधे हुए मार्गपर बँधी हुई सावधानीसे चलते हैं वे सहज ही संदेह कर सकते हैं कि इन लोगोंकी दृष्टि, उपलब्धि और इन लोगोंका कहना सब पागलोकी ख़ाम-ख़याली है। परन्तु, सब देशो और सब कालोंमें इस दलके लोगोंके बोध और वाणीमें समानता देख पड़ती है। देखता हूँ कि सब वृक्ष अपनी लकड़ीके भीतर एक ही तरहकी अग्नि संचित कर रखते हैं। यह अग्नि वे किसी चूल्हेसे माँगकर नहीं लाते, चारों ओरसे खुद ही संग्रह करते हैं,—वृक्षके पत्तोको ज्यो ही सूर्यका प्रकाश छूता है, त्यो ही एक जाग्रत शक्तिके ज़ोरसे वे हवामेंसे कार्बन-वायु खींच लेते हैं। ठीक इसी तरह, मानव-समाजमे सभी जगह इन मर्मी लोगोकी एक सहज शक्ति दीख पड़ती है। ऊपरसे उनके मन पर प्रकाश पडता है और वे चारों ओरकी वायुमेंसे सत्यके तेजोरूपको अपने आप ही भीतर ग्रहण करने लगते हैं। उनका संग्रह शास्त्र-भाडारके शास्त्र-वचनोंके सनातन संचयमेसे चुन कर किया हुआ नहीं होता। इसलिए, उनकी वाणी ऐसी नवीन होती है कि उसका रस कभी सूखता ही नही।

अनन्त तो ज्ञानमें समा नहीं सकता, इसीलिए, ऋषि कहते हैं कि उसे न पाकर मन वापस लौट आता है। उसी अनन्तके सारे रहस्यको बाद देकर उसे हम सम्प्रदायका ईश्वर, शास्त्र-वाक्यका ईश्वर, स्वीकारपत्रमे दस आदमियोके द्वारा दस्तख़त करके साक्षी रूपमें स्वीकार किया हुआ ईश्वर, और हाट-बाटमें 'राम राम' करने का राम बना देते है। उस सुनिर्दिष्ट मतके फ़्रेममें जड़े हुए ईश्वरकी धारणा एकबारगी पत्थरकी तरह कठोर होती है। उसे मुट्ठीमें दबा कर साम्प्रदायिक गाँठमें बाँधकर रखा जा सकता है,—उसके सहारे एक दूसरे

का सिर फोड़ना भी सहज हो सकता है। परन्तु, हमारे मर्मी कवियोंका ईश्वर किसी एक पुण्याभिमानी दल-विशेषका 'सरकारी' ईश्वर नहीं है,—वह है प्राणेश्वर।

ऋषियोंने कहा है, ज्ञानमें 'वह' नहीं पाया जाता,—'उसे' आनन्दमें ही प्राप्त किया जाता है। अर्थात् हृदय जब 'अनन्त'को स्पर्श करता है तब हृदय और मन उसे 'अमृत' कहकर बोध करते हैं, और, इस घने रस-बोधमें ही उनका सारा संशय दूर हो जाता है। कवि शेलीने उसी बोधका गान गाया है और मर्मी कवियोंके कण्ठसे भी उसी बोधका गान निकला है। जो रहस्य है वह ज्ञानके समीप खालिस अन्धकार है,—यह भी कहा जा सकता है कि वह सर्वथा है ही नहीं। किन्तु, जो रहस्य है, हृदयके समीप उसीका आनन्द गहरा और घना होता है,—उसी आनन्दके द्वारा ही हृदय असीमताके सत्यको प्रत्यक्ष पहिचान पाता है। तब, वह किसी बँधी हुई प्रचलित रीतिको नहीं मानता,—किसी मध्यस्थकी दलालीको पास भी नहीं फटकने देता।

जिन्हें अमृतका रस-बोध नहीं हुआ है,—जिन्होंने उसका स्वाद नहीं चखा है, वे ही भय, क्षुधा और क्षमताको मानते हैं। वे एक ऐसे देवताको मानते हैं जो वर देता है या दण्ड,—जिसकी दाहिनी बाजू स्वर्ग है और बाईं ओर नरक, जो स्वयं दूर बैठा हुआ कठोरतासे विश्वका शासन करता है, जिसको पशु-बलिसे खुश किया जा सकता है, जिसका गौरव-प्रचार करनेके लिए पृथ्वीको रक्तसे प्लावित कर देना होता है, जिसके नाम-मन्त्रसे मानव-समाजमें इतना भेद-विच्छेद,—परस्पर एक दूसरेके प्रति इतनी अवज्ञा,—इतना अत्याचार होता है।

भारतके मर्मी कवियोंने शास्त्र-निर्मित पत्थरके बेड़ेसे भक्तजनोंके मनको मुक्ति दी थी। प्रेमके अश्रु-जलद्वारा देव-मन्दिरके आँगनमेंसे रक्तपातकी कलङ्क-रेखाको पोंछ डालना उन्हींका काम था। आनन्दके आलोकमें जिनका आविर्भाव मनुष्यका सब भेद-भाव भीतरसे मिटा देता है उन्हीं रामके वे दूत थे। भारतके इतिहासकी निशीथ रात्रिमें भेद-भावका पिशाच जब विकट नृत्य कर रहा था तब उन्होंने ही उस पिशाचको स्वीकार नहीं किया। वे यह भी निश्चयसे जानते थे कि जिनके आनन्दसे वे अपने आपको अहमिकाके बन्धनसे छुड़ा पाये हैं उन्हींके आनन्दसे मनुष्यकी भेद-बुद्धि दूर हो सकेगी,—बाहरके

किसी (राजनीतिक या सामाजिक) समझौतेसे नहीं। वे अब भी कार्य कर रहे हैं। आज भी, जहाँ कही मै हिन्दू-मुसलमानोके आन्तरिक प्रेमका योग देखता हूँ वही मुझे दिखाई देता है कि रास्ता वे ही बना गये हैं। उन्हींके उत्तरवर्ती सन्त साधक आज भी बङ्गालके गाँव गाँवमें एकतारा बजाकर गान गाते हैं,—उनका वह एकतारेका तार ऐक्यका ही तार है। भेद-बुद्धिके पण्डे शास्त्रज्ञों और मौलवियोने उनके ऊपर डण्डा उठाया है। किन्तु, इतने दिन जो सामाजिक अवज्ञासे मरे नही वे सामाजिक शासनके समीप हार मान लेंगे, इस बातपर विश्वास नहीं होता।

भारतीय समाज भेद-बहुल है। यहाँ नाना भाषायें, नाना धर्म, नाना जातियाँ हैं, इसी कारण भारतके मर्मकी वाणी ही ऐक्यकी वाणी है। इसी कारण, जो भारतके यथार्थ श्रेष्ठ महापुरुष हुए है, उन्होने मनुष्यकी आत्मा-आत्मामे सेतु-निर्माण करना चाहा है। बाहरके आचारने भारतमें नाना आकारमें भेदको ही मज़बूत कर रक्खा है, इसीलिए, भारतकी श्रेष्ठ साधना है बाहरके आचारको अतिक्रम करके अन्दरके सत्यको स्वीकार करना। परम्परा-क्रमसे भारतवर्षके महापुरुषोंका आश्रय लेकर यही साधनाकी धारा चिरकालसे चली आ रही है। साथ ही, भारतीय समाजकी बाहरकी अवस्थाके सङ्ग उसकी भीतरी साधनाका चिरकालसे ही विरोध है, जिस तरह कि झरनेके साथ उसके स्रोतके मार्गमें आनेवाले रोडे-पत्थरोंका। किन्तु, क्या अचल बाधाको ही सत्य कहना चाहिए, चल प्रवाहको नहीं? संख्यामे तो बाधाओंकी ही जीत है,—उनका वज़न भी कम नहीं है, किन्तु, इसीलिए उन्हे प्राधान्य नही दिया जा सकता। जो थोडा-सा जल झर झर करता हुआ शैल-राजकी वज्र-गुहासे बाहर आ रहा है, बहुत आघात-व्याघातोंसे गुज़रकर विस्तीर्ण बालुका-राशिके एक हिस्सेमेंसे किसी तरह रास्ता बनाकर समुद्रकी खोजमें चला है, पर्वतकी बर्फ-गलित वाणी जिसकी लहरोमें है,—यही शीर्ण, स्वच्छ, प्रच्छन्न धारा ही शैलराज हिमालय और समुद्रके बीचकी महायतन बहुविच्छिन्नताके भीतरका ऐक्य-सूत्र है जो दोनोंको सम्बद्ध करता है।

भारतकी वाणीको वहन करनेवाले जो ऐक्यके दूत इस देशमें जनमे हैं, यह बात नहीं है कि उन्होंने प्रथमसे ही यहाँ आदर-सम्मान प्राप्त किया हो।

हमारे देशवासी जब उन्हें बिलकुल ही अस्वीकार न कर सके तब नाना काल्पनिक कहानियोंके द्वारा उन्होने उनकी स्मृतिको संशोधित कर लेना चाहा है,—जहाँ तक उनसे बन पडा है उन्होने उनके चरित्रोपर सनातनी रंगकी कूँची फेर दी है। फिर भी, इस बातको न भूल जाना चाहिए कि भारतकी इन श्रेष्ठ संतानोंने जनादर पानेमें बाधा ही पाई। उनका आदर न पाना ही स्वाभाविक था, क्योंकि, वे भेद-प्रवर्तक सनातन-विधिके बाहरके लोग थे जिस तरह ईसा मसीह अपने जमानेमे थे। बहुत अरसेतक अनादरकी असाम्प्रदायिक छायामें वे प्रच्छन्न रहे, इस कारण वे अभारतीय थे ऐसा नहीं है। यथार्थ सच्चे भारतीय तो वे ही थे, क्योकि, उन्होंने ही बाहरकी किसी (राजनीतिक या आर्थिक) सुविधाके लिए नहीं, वरन्, आन्तरिक आत्मीयताके कारण ही हिन्दू-मुसलमानोको एक समझा था। साधनाद्वारा ऋषियोके इस वाक्यको उन्होंने ही प्रमाणित किया था कि 'सत्यको वे ही जानते है जो अपनेको सबके भीतर देखते हैं।'

इस घोर शुष्कताके युगमे मै यह आशाकी बात याद दिला देना चाहता हूँ कि मिट्टीके निचले स्तरमें जलका स्रोत बह रहा है। शुष्कताका,—मरुभूमिका घेरा लोहेके घेरेसे अधिक दुस्तर होता है। हमारे देशमें चारो ओर उसी शुष्कता और अप्रेमका घेरा सबसे बढ़कर सर्वनाशी होकर फैला हुआ है। अपने मतलब या स्वार्थका योग मशकमें जल भरके ले जानेवाले सार्थवाहोंके (=एक देशसे दूसरे देशको व्यापारिक उद्देश्यसे कारवाँ या टाँडा ले जानेवाले व्यापारिक नेताओके) योगके समान है। वह जल समय समयपर कभी कोई काम दे जाता है, कभी नही भी देता,—कभी बालूकी आँधी सारे दलको ही दबा देती है, मशकका जल गर्म हो उठता है, सूख जाता है, छेदोंमेंसे चू जाता है। इस मरुभूमिमें जहाँ मिट्टीके नीचे चिर-वहमान छिपा हुआ जल-स्रोत बाहर उमड़ आता है वही रक्षा है। मर्मी कवियोका वाणी-स्रोत इसी तरह, इस मरुभूमिके घेरेमें, समाजके अगोचर स्तरमें बह रहा है। शुष्कताका घेरा तोड़नेका सच्चा उपाय है उसी प्राणमयी धारामें। उद्धार करके उसे अब साहित्यके ऊपरी धरातलमें लाना होगा। हमारे पुराणोमें लिखा है कि सगर-वंश भस्म होकर रसातलमे पड़ा था, उसीकी रक्षा करनेके लिए विष्णुपादपद्मविगलिता जाह्नवीकी धाराको वैकुण्ठसे आह्वान करके लाया गया। इसका गंभीर अर्थ यह है कि प्राण जहाँ

दग्ध हो गये हैं वहाँ उन्हे रस-प्रवाहसे ही बचाया जा सकता है। सिर्फ किसी एक कर्मके आवर्तनसे उन्हे हिलाया भर जा सकता है, बचाया नहीं जा सकता। मनुष्यके चित्तकी मृत्युसे रक्षा करनेके लिए वैकुण्ठके अमृत-रस-प्रस्रवणपर ही हमारे मर्मी कवियोने दृढ आस्था रक्खी थी,—किसी बाह्य आचारके समझौतेपर नहीं। वे लोग जिस रस-धाराको वैकुण्ठसे खींच लाये थे, हमारे देशकी सामाजिक बालूके तलमें वह छिपी हुई पडी है,—नष्ट नहीं हो गई है। क्षिति-मोहन बाबूने भार लिया है बँगला-भाषामें उसी लुप्त स्रोतको उद्धार करके ऊपर लानेका। केवल हिन्दीसे ही नहीं, मै आशा करता हूँ कि बँगलाकी गुहासे भी वे सन्तोकी उस सुवर्ण-रेखाकी वाणी-धाराको प्रकाशित करेगे जिसमे सोनेके कण छिपे हुए हैं।

—

प्राचीन और नवीन

लाल रणजीतसिंह न रहे। जीवन और मृत्युकी इस लीला-भूमिमें किसीकी मृत्युका समाचार सुनकर कोई क्षुब्ध नहीं होता। कालके गर्भमें अनन्त जीवन-धारायें लुप्त होती रहती हैं। तब, एक जल-बिन्दुके निपातसे किसका गात्र कम्पित हो सकता है? परन्तु, आज मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मानों मुझे वृद्धावस्थाने आकर घेर लिया है। मेरे देखते ही देखते एक एक कर कितने ही लोग चले गये। न जाने कहाँ, किस लोकमें, एकत्र होकर वे सब मेरी राह देख रहे हैं! क्या कभी उनसे फिर भेंट होगी?

लाल रणजीतसिंह इलाहाबाद आये थे। उन दिनों मैं जैन बोर्डिङ्गके सामने एक छोटेसे मकानमें रहता था। वहीं लाल साहब आकर ठहर गये। उन्हीं दिनोंमें मेरे और भी दो मित्र आये हुए थे। एक थे जगदीश और दूसरे थे महेश। एक साहित्यके आचार्य थे और दूसरे दर्शन-शास्त्रके। प्रतिदिन दोनोंमें विवाद हुआ करता था। लाल साहब उपन्यासोंके प्रेमी थे। उन्हें भी साहित्य-चर्चा पसन्द थी। वे भी एक दिन उसी विवादमें सम्मिलित हो गये। आज यहाँ मैं उसीकी बात लिख रहा हूँ।

सन्ध्या हो गई थी। मैं 'इण्डियन प्रेस'से काम करके घर लौटा। महेश और जगदीश दोनो बैठे बातें कर रहे थे। मेरे आनेपर लाल साहब भी वहीं आकर बैठ गये और महेशसे कहने लगे—मैं आज एक उपन्यास पढ़ रहा था। वह है तो एक विख्यात लेखककी कृति, पर उसे पढ़कर मुझे विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आधुनिक कथा-साहित्य रससे हीन होता जा रहा है। आजकल उपन्यासोंमें चरित्रोंकी सृष्टिके लिए उतनी चिन्ता नहीं की जाती जितनी चरित्रगत विशेषताका विश्लेषण करनेके लिए की जाती है।

महेशने कहा—पर सत्यके अनुसन्धानमे ही आनन्दकी उपलब्धि होती है और चरित्र-वैचित्र्यका विश्लेषण करनेसे ही हम सत्यको जान सकते हैं।

जगदीशने कहा—यहीं तुम भूल कर रहे हो। मनुष्य-जीवन कोई रासायनिक पदार्थ नही है, जिसका विश्लेपण कर आप तत्त्व निकाल सकें। मनुष्यको खण्ड खण्ड कर देखनेसे हम कभी उसके जीवनका रहस्य नही जान सकते। वह जैसा है, हमें ठीक उसी रूपमें, समग्र भावसे ही, उसपर विचार करना चाहिए। जहाँ जीवनकी संपूर्णता है, वही दृष्टिपात करनेसे हम जीवनका यथार्थ तत्त्व जान सकेंगे। इसीलिए, प्राचीन कालमें महत् चरित्रोकी सृष्टि की जाती थी। पर, आजकल उपन्यासोमे व्यक्तिगत वैचित्र्यको ही स्पष्ट करनेके लिए यत्न किया जाता है।

लाल साहबने कहा—संसारमें छोटे-बड़े सभी तरहके मनुष्य रहते हैं। वे सदैव महत्त्वपूर्ण कार्योंमे निरत नही रहते। अधिकांशका जीवन-काल ऐसे ही कार्योंमें व्यतीत होता है जो तुच्छ कहे जाते है। मनुष्य अपने जीवनमें सुख-दुःखका अनुभव करता है। कभी वह किसीसे प्रेम करता है तो कभी किसीसे घृणा करता है। काम-क्रोध-लोभ-मोहके चक्रमें वह पड़ा रहता है। मनुष्योंका यह दैनिक जीवन क्या उपेक्षणीय है?

जगदीशने उत्तर दिया—तुच्छ कार्योंमे निरत रहने पर भी मनुष्य इतना अवश्य अनुभव करता है कि उसका जीवन इतना ही नही है। उसके हृदयमें यह विश्वास छिपा रहता है कि वह कुछ और भी है। उस 'कुछ और'को प्राप्त करनेकी वह चेष्टा भी करता है। इसलिए, वह जब किसीमें किसी प्रकारकी महत्ता देखता है तब उसकी ओर आकृष्ट होता है। वह शक्तिकी महत्ताको समझता है, इसीलिए, शक्तिका अनुभव करना चाहता है; और तब, मनुष्योमें शक्तिके जो जो प्रतिनिधि होते हैं, वे सभी उसकी कल्पनाके विषय हो जाते हैं। यह सच है कि सभी समय मनुष्य किसी एकमे ही शक्तिकी पराकाष्ठा या महत्ताका आदर्श नही देखता,—उसका यह आदर्श बदलता रहता है। परन्तु, इसमे सन्देह नहीं कि महत् भावकी ओर मनुष्योको अग्रसर करानेके लिए ही साहित्यकी सृष्टि होती है। यदि साहित्यमें केवल चरित्रगत विशेषताओंका ही विश्लेषण किया गया, तो उससे हम लोगोंमें कोई महत् भाव नहीं आ सकता।

महेशने कहा—कथाओंके प्रति मनुष्यमात्रका जो अनुराग है, उसका कारण यह है कि एक मनुष्य स्वभावतः दूसरेको जानना चाहता है। पहले उसे कुतूहल होता है, फिर सहानुभूति। असाधारणतासे केवल कुतूहलका उद्दीपन होता है, परन्तु, सहानुभूतिके लिए साधारण बातें ही चाहिए। इसीलिए, जिन कथाओंमे असाधारण विस्मयकर घटनाओंका विवरण रहता है, उनसे पाठकोंको विनोद भले ही हो, पर उनसे उनके हृदयमें सहानुभूतिका भाव जाग्रत नही हो सकता। सच तो यह है कि मनुष्यके चरित्रमें जहाँ दुर्बलता है, वहीं हम लोगोंकी सहानुभूति उत्पन्न होती है। महत्तासे केवल विस्मय, आतङ्क या भक्ति आदि भावोंका उद्रेक भले ही हो, परन्तु, पाठक उस महत्ताको अपना नही सकता। इसीलिए, जो उच्च कोटिके लेखक है, वे अपने पाठकोंको असाधारण घटनाओंके फेरमें नहीं डालना चाहते। वे उन्हें अपने प्रतिदिनके सुखदुःख की बातें बतलाते है। इन्हींसे पाठकोंकी सहानुभूति जाग्रत होती है। अच्छे लेखकोंका सबसे अच्छा लक्षण यह है कि उन्हे पढ़ते समय हम तन्मय हो जाते हैं। सत्य सदैव सरल, सुन्दर और साधारण होता है। अतएव, जिनकी रचनाओंमें सत्यकी सरल और सुन्दर छवि आती है, उन्हींके प्रति हमारा अनुराग होता है। जो लोग कथाओंसे केवल कुतूहलोद्दीपन चाहते हैं, उनके लिए सत्यके ये सरस चित्र चित्ताकर्षक नहीं होते, परन्तु, पाठकोंके हृदयपर ऐसे चित्रोंका प्रभाव पड़ता है।

जगदीशने कहा—जब जातिकी शक्ति क्षीण होने लगती है तभी वह महत्ताकी ओर अग्रसर नही होती और तभी वह महत्तामें असाधारणताका अनुभव करती है। जब किसी जातिका उत्थान होता है, तब उसमें एक दैवी शक्ति-सी आ जाती है और तब वह असाधारणताकी प्राप्तिके लिए ही उत्सुक होती है। साधारण बातें उसको बिलकुल तुच्छ जान पड़ती हैं। सच तो यह है कि इसी कारणसे साहित्यका स्वरूप परिवर्तित होता है। भिन्न भिन्न कालोंमें भिन्न भिन्न आदर्शोंकी सृष्टि होती है। मानव-समाजके उत्थान-पतनके साथ उसके आदर्श भी उच्च कोटि अथवा निम्न कोटिके होते है। वाल्मीकि और व्यासके युगमें साहित्यका जो आदर्श था, वह कालिदासके युगमें न रहा और न कालिदासका आदर्श मुग़ल-कालमें रह सका। आधुनिक युगमें दूसरे ही

आदर्श ग्रहण किये जाते है। इसका एकमात्र कारण यही है कि हिन्दू जाति भिन्न भिन्न अवस्थाओंका अतिक्रमण करती आई है। कथाओंमे मानव-जीवनकी चिरन्तन घटनाये और उसकी उच्चतम अभिलाषाये छिपी रहती हैं। सच तो यह है कि इन्हीं कथाओंके द्वारा हम किसी भी जातिकी जीवन-धाराकी गति निर्दिष्ट कर सकते है। प्राचीन कालमें सभी देशोंके साहित्यमें हम विराट् भावोंकी प्रधानता देखते हैं। ये विराट् भाव जातिमें तभी प्रचलित हुए हैं, जब उसमें विजयके लिए असीम उत्साह था। प्राचीनकालमें राजा ही मानवीय शक्तिका प्रतिनिधि होता था। वही जातिका गौरव-स्थल था। अतएव वही जातिका आदर्श था। इसीलिए सभी देशोंके प्राचीन साहित्यमे राजाका ही वर्णन है। राजाको आदर्श मानकर मनुष्योने उसीमें अपनी समस्त इच्छाओंका चरम परिणाम देखना चाहा। ये राजा सबसे अधिक रूपवान् हैं, उनमे शक्ति भी असाधारण है। मनुष्योंमें जो सर्वोच्च गुण हो सकते हैं, उन सबके वे आगार है। यह सब-कुछ होनेपर भी इन कथाओंमे किसी भी राजाका जीवन सुखमय नही है। बात यह है कि सुख और विलास उन्नतिशील जातिके लिए तुच्छ है। वह जानती है कि उन्नतिके मार्ग पर कितने ही विघ्न और बाधाये हैं,— कितने ही संकट और विपत्तियाँ है। उन्हीं सबको अतिक्रमण करनेपर जाति उन्नतिके उच्च शिखरपर पहुँचती है। इसीलिए, प्राचीन कथाओंके सभी नायकोंको विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है। उनके शत्रु भी विकट थे; परन्तु, अन्त में उन्होंने सभी शत्रुओंको पराभूत कर दिया। सङ्कटमें ये नायक कभी धैर्यच्युत नहीं हुए। प्रलोभनमें पड़कर कभी इनकी मति भ्रष्ट नही हुई।— जब तक किसी जातिका साम्राज्य स्थापित नहीं हुआ तब तक उसमे ऐसे ही आदर्श प्रचलित रहे। उसके बाद, धर्मकी महिमासे महीयान् व्यक्तियोंके आदर्श स्वीकृत हुए। जब तक धार्मिक भाव प्रबल रहे, तब तक ये धार्मिक आदर्श भी प्रचलित रहे।—आधुनिक युगमें एक ओर संशयावस्था है और दूसरी ओर विलासप्रियता। जो विज्ञान पहले प्रकृतिके रहस्यमय द्वारका उद्घाटन करनेके लिए प्रयत्नशील था, वह अब मानव-जातिकी विलास-सामग्री ढूँढनेमें तत्पर है। न जातिमें वह अदम्य उत्साह है और न वह प्रबल शक्ति। इसीलिए, विराट् चरित्रोंकी सृष्टि लोगोंको असाधारण जान पड़ती है। मार्लो

और शेक्सपियरके नाटकोंमें इँग्लैण्डके विजयोल्लास और दर्पके चित्र हैं; परन्तु आधुनिक नाटकोंमें समाजकी हीनावस्थाके ही चित्र अङ्कित होते है।

महेशने कहा,—तुमने जो कहा वह केवल सत्यांश है, सम्पूर्ण सत्य नहीं है। मनुष्योंको अपने जीवनके आरम्भ-कालमें ही अपने पुरुषार्थसे एक अलक्षित शक्तिके साथ युद्ध करना पड़ा। पद-पदपर उसने उस अलक्षित शक्तिका अनुभव किया। जब उसने प्रकृतिकी सारी शक्तियोंको वशीभूत कर निर्जन वनमें विशाल नगर स्थापित कर लिये,—ऐसे नगर, जहाँ वर्षाके अट्टहास और तडित्‌के उग्र विलासमे भी वह निःशङ्क होकर आत्म-विनोद करता था, ग्रीष्मके प्रचण्ड उत्तापमे भी निर्भय होकर विहार करता था,—तब भी, उस अलक्षित शक्तिके सम्मुख उसे नतमस्तक होना पड़ा। पुराणोंमें तारकासुरकी कथा मनुष्य-जातिके इसी पराभवकी सूचना देती है। तारकासुरने समस्त देवोंको परास्त कर अपने राज्य-भवनमे उनको दास बनाकर रख छोड़ा था, उसकी आज्ञाके विपरीत न तो वायु चल सकती थी, न सूर्य प्रकाश दे सकता था और न इन्द्र वर्षा कर सकता था। परन्तु, उसे भी उस दुर्जय शत्रुसे हार खानी पडी,—उसी शक्तिसे वह पुरुष उत्पन्न हुआ जिसने अन्तमें उसका संहार कर डाला। पुराणोंमे जो कथायें वर्णित हैं, उन सबका लक्ष्य एकमात्र यही है कि मनुष्य एक अलक्षित शक्तिके सर्वथा वशीभूत है; उसका सारा पुरुषार्थ उसके आगे व्यर्थ हो जाता है,—वही उसका भाग्य है, वही उसकी नियति है। एक कथामें यह कहा गया है कि हिरण्यकशिपुने तपस्याद्वारा ब्रह्माको प्रसन्न कर उससे यह वर माँगा कि वह देव, मनुष्य और पशु तीनोंके लिए अवध्य हो, जल और स्थलपर न मारा जा सके, दिन और रात्रिमें उसकी मृत्यु न हो: इस प्रकार वर माँगकर वह मानो उस अलक्षित शत्रुको भी परास्त कर देना चाहता था। परन्तु, नियतिने उपहास करके उसे उससे मरवाया जो न मनुष्य था, न देव था, न पशु था। था वह नृसिंह। न जलपर उसकी मृत्यु हुई, न स्थलपर। मृत्यु हुई उसकी नृसिंहके अंकपर। न दिनमे वह मरा न रातमे। उसकी मृत्यु हुई सन्ध्यामे। सभ्यताके आदिकालमें सभी देशोंके मनुष्योंने उस अलङ्घनीय, अदम्य, दुर्जेय शक्तिका अनुभव किया। ग्रीक-साहित्यका आदिकाव्य 'इलियड' तो केवल नियतिकी ही कथा है। उसमें

मनुष्योंकी प्रचण्ड शक्ति, अदम्य उत्साह,—सभी कुछ वर्णित है। परन्तु उन सबके अन्तमें ट्रायकी निर्जन समर-भूमिमे एकमात्र नियति अट्टहास करती हुई दिखाई देती है और चारों ओर मनुष्योंका केवल हाहाकार ही सुनाई पड़ता है। प्राचीन युगमे मनुष्य-जातिको बाह्य प्रकृतिसे विशेष प्रतिरुद्ध होना पडा। जबतक उसने अपनी अन्तरात्माकी महत्ता न देखी, तब तक वह प्रकृतिसे पराभूत होनेपर अदृष्ट-शक्तिकी महिमाको स्वीकार करती रही। परन्तु, जब उसने अपनी अन्तःशक्तिका अनुभव कर लिया तब बाह्य प्रकृतिकी शक्ति उसे तुच्छ मालूम होने लगी। धर्मकी महिमासे महीयान् मध्य युगके सन्तोंने अन्तरात्माकी विभूतिका दर्शन करा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्यमें अदृष्टवादकी जगह धर्मकी अलौकिकताने प्रधानता प्राप्त कर ली।—यह सम्भव है कि वह अलक्षित शक्ति सासारिक शक्तिके द्वारा पराभूत हो जाय, परन्तु, उसकी महिमा सासारिक महिमाको अतिक्रमण कर एक अलौकिक जगतमें अपनी अचल महिमा स्थापित करती थी। इस प्रकार, उस शक्तिका पराभव कभी सम्भव न था। वह शक्ति सत्यकी थी, वह शक्ति धर्मकी थी। किन्तु, उसका विकास केवल महान् आत्माओंमें सम्भव था। इसीलिए, मध्ययुगकी कथाओंमे महान् आत्माओंकी गाथाये हैं, सर्वसाधारणकी कथाये नहीं। आधुनिक युगमे मनुष्य-मात्रमे उसी शक्तिका अनुभव कर कवियोने साधारण मनुष्योंको ही अपनी रचनाओमे नायकका स्थान प्रदान किया है। नीच हो या क्षुद्र, कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जिसके अन्तर्जगतमें उस ज्योतिर्मय शक्तिकी लीला न दिखाई पड़ती हो। साधारण मनुष्योंके दैनिक जीवनमें भी,—उनके साधारण सुख-दुःख और पाप-पुण्यके क्रिया-कलापोमें भी, जीवनकी एक सम्पूर्णता है, जिससे समस्त विश्वमें एक ही भाव, एक ही शक्ति, एक ही सत्ताका अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है।

मैंने कहा—आधुनिक साहित्यमे विराट् चरित्रोकी अथवा महत् भावोंकी प्रधानता क्या सम्भव ही नहीं है? तुम लोगोके विवादसे तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कवि केवल अपने युगकी एक वस्तु-मात्र है। मानो उसकी कोई स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति है ही नहीं। मेरी समझमे तो जिनमे प्रतिभा है, वे मौलिक चरित्रोकी सृष्टि अवश्य करते हैं। वाल्मीकि हो या होमर, कालिदास

हो या शेक्सपियर, स्काट हो या बङ्किमचन्द्र,—चरित्रोकी सृष्टिमे ही उनका विशेष कर्तृत्व प्रकट होता है। यदि प्राचीन कालके कवियोमे प्रतिभा थी, तो आधुनिक कालके कवियोमें प्रतिभाका अभाव नही हो गया है। मै तो यह समझता हूँ कि आधुनिक उपन्यासोका रहस्य जाननेके लिए हमे प्राचीन कथाओंका अनुसन्धान नहीं करना पडेगा। आधुनिक साहित्यमें कथाओं-का एक दूसरा ही रूप हो गया है, उनका स्थान भी उच्च हो गया है। सच तो यह है कि प्राचीन कालमे महाकाव्योका जो स्थान था, उसे अब आधुनिक उपन्यासोने ले लिया है। प्राचीन महाकाव्योंमे और आधुनिक उपन्यासोमे जो भेद है, वह केवल रूपका है। लक्ष्य दोनोका एक ही है। यह सच है कि महाकाव्यमें जिन बातोका समावेश होता था, उनको अब कोई भी उपन्यासकार अपने उपन्यासमे स्थान नहीं दे सकता। यदि वह ऐसा करे तो उसकी कथाका रस ही नष्ट हो जाय। इसी प्रकार यदि महाकाव्योमे उन बातोंको स्थान दिया जाय, जिनका विचारपूर्वक वर्णन उपन्यासकार किया करते हैं, तो उस महाकाव्यका कोई महत्त्व ही न रह जायगा। बात यह है कि विषय महत् होनेपर भी उपन्यासकारकी कलाके साधन कुछ दूसरे ही होते हैं। अतएव, यह कहना चाहिए कि प्राचीन कालसे लेकर आज तक आप लोगोने जिस वस्तुका विकास बतलाया है, वह केवल रूपका विकास है,—वस्तुका नहीं। रूपके लिए हम दूसरोंका आश्रय ग्रहण करते हैं। परन्तु, वस्तु हम लोगोकी अनुभूतिका फल है। वाल्मीकिने रामचरितका वर्णन किया है और तुलसीदास तथा केशवदासने भी रामचन्द्रकी कथायें लिखी हैं। विषय एक है, रूप भी एक है, क्योंकि, तीनोंने महाकाव्य ही लिखे हैं; परन्तु, भेद उनमें प्रत्यक्ष है और उसका एकमात्र कारण है उनकी पृथक् पृथक् अनुभूति।

महेशने कहा—आप एक दूसरी ही बातकी चर्चा करते हैं और हम लोगोंका विवाद कुछ और ही था। परन्तु, आपके इस कथनके विरुद्ध भी मैं कुछ कहना चाहता हूँ। साहित्यमें कार्य-कारणका नियम उतना ही व्यापक है जितना बाह्य जगतमे। संसारमे जब कोई कार्य होता है तब उसका एक कारण भी होता है। साहित्यमें सहसा किसी ग्रन्थकी सृष्टि नही हो जाती;

कवि शून्यतासे सामग्री नहीं प्राप्त कर सकता। उसके लिए एक विशेष बाह्य स्थितिकी आवश्यकता होती है। सच तो यह है कि जब तक उसके लिए समाज प्रस्तुत नहीं है, तब तक वह प्रकट भी नहीं होता। जो भावनायें कविके काव्यकी उपजीव्य हैं, वे समाजमें पहलेसे प्रचलित हो जाती हैं। यदि तुलसीदासके पहले भक्तिकी भावना प्रबल न होती तो 'रामचरितमानस' की सृष्टि भी न होती। सृष्टि होती तो ऐसे महाकाव्यकी जो किरातार्जुनीयका दूसरा रूप होता। यह भक्ति-भावना भी किसी कारणका परिणाम है। वह कारण क्या है, यह जाननेके लिए हमें तत्कालीन और उसके पूर्ववर्ती इतिहास-पर दृष्टि डालनी होगी। इतिहास और साहित्यमें विशेष सम्बन्ध है,—साहित्यसे इतिहास स्पष्ट होता है और इतिहाससे साहित्य। विद्वानोंने अब यह समझ लिया है कि साहित्य केवल कल्पनाका क्रीड़ा-स्थल नहीं है और न वह उत्तेजित मस्तिष्ककी सृष्टि-मात्र है। वह अपने कालके मानसिक विकासका चित्र है। हम लोगों के विवादका मुख्य विषय यह विकास ही था। प्राचीन काल, मध्य युग और आधुनिक युगमें किन किन भावोंकी प्रधानता होनेके कारण साहित्यमें किस किस आदर्शकी सृष्टि हुई और उन आदर्शोंके द्वारा जातिकी कितनी उन्नति या अवनति हुई, यही हम लोगोंके विवादका विषय था।

मैंने कहा—पर, वर्तमान साहित्यकी एक विशेषता उसका आदर्श भी है। वर्तमान साहित्यका आदर्श है उन सामाजिक और राजनीतिक समस्याओंको हल करना जिनके कारण सर्वत्र अशांति फैली हुई है। आधुनिक साहित्यमें तीन प्रकारके आदर्श स्वीकृत हुए हैं: रियलिस्ट, आइडियलिस्ट और रोमेंटिसिस्ट। संसारमें जो घटनायें प्रतिदिन होती हैं उनका यथार्थ चित्रण करना रियलिस्ट कला-कोविदों का काम है। ऐसे लेखकोंकी रचना पढ़ते समय यही जान पड़ता है कि मानो हमने यह दृश्य स्वयं कहीं देखा है। यही नहीं, किन्तु, उसके पात्रोंके चरित्रोंमें हम अपने परिचित व्यक्तियोंके जीवनका सादृश्य देख लेते हैं। आइडियलिस्ट लेखक एक आदर्श चरित्रके उद्घाटनकी चेष्टा करते हैं। संसारकी दैनिक घटनाओंमें वे ऐसे भावोंका समावेश करते है कि उनसे एक अपूर्व चित्र खिल उठता है। वह चित्र पाठकोंके हृदयपर स्थायी प्रभाव डालता है। पाठक अपने अनुभवद्वारा कविके आदर्शकी उच्चताको

स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे लेखक सत्यका बहिष्कार नही करते; वे ससारको दैनिक घटनाओंसे ही अपनी कथाके लिए सामग्रीका संग्रह करते है। परन्तु, उनकी कृतियोंमें घटनाओका ऐसा विन्यास किया जाता है कि उनमे कुछ भी अलौकिकता या असाधारणता ज्ञात नही होती। पाठकोंके मनमे यही बात उदित होती है कि ऐसा हमने देखा तो नहीं है, पर देखना अवश्य चाहते हैं। रोमेण्टिक साहित्य कल्पनाकी सृष्टि है। उसमें साधारण घटनाओंमें भी एक असाधारणताका अनुभव कराया जाता है। आधुनिक साहित्यमें इन तीनो आदर्शों का समावेश हो रहा है। मेरी समझमें यह मानना भ्रमपूर्ण है कि आधुनिक साहित्यमें रियलिज़मकी ही प्रधानता है। आधुनिक साहित्यका मुख्य उद्देश्य यही जान पडता है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी रक्षा कर समाज के साथ उसका नैसर्गिक यथार्थ सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय। जो कृत्रिम, अश्रेयस्कर व्यवधान हैं, वे नष्ट कर दिये जायँ। इसीसे आधुनिक साहित्यमें वर्तमान कालकी सभ्यताके अन्धकारमय भागपर पर्दा डालकर छिपानेकी चेष्टा नहीं की जाती और उसीके साथ यह बात भी प्रकट कर दी जाती है कि वह किस प्रकार ज्योतिर्मय हो सकता है।

महेशने कहा—मै भी यही कहना चाहता हूँ। आधुनिक साहित्यमें मै किसी प्रकारकी हीनताका अनुभव नही कर रहा हूँ। यह सच है कि पहले विराट् चरित्रोंकी जैसी सृष्टि होती थी, वैसी सृष्टि अब नहीं होती। पर, आजकल मनुष्योंके मानसिक भावोंमें एक बड़ा परिवर्तन हो गया है। पहलेकी तरह देश-कालमें आबद्ध होकर वे संकीर्ण विचारोंके नही रहे हैं। उनमें यथेष्ट स्वतन्त्रता आ गई है। पहले मनुष्योकी जैसी प्रवृत्ति थी; उनमे प्रेम, घृणा आदि भावोंका जैसा संघर्षण होता था,—वही हम शेक्सपियर आदिकी रचनाओंमें देखते हैं। परन्तु, अब यह बात नही है। आजकल युवावस्थाकी उद्दाम वासना और प्रेम व्यक्त करनेके लिए रोमियो-जूलियट अथवा एण्टोनी-क्लियोपेट्राकी सृष्टि नहीं करनी होगी। उनसे हमारा काम भी नहीं चलेगा। मनुष्यमें भोग-लालसाके साथ ही जो एक सौन्दर्य-वृत्ति है, उसमें आजकल समाज-बोध और अध्यात्म-बोधका मिश्रण हो गया है। उसके हृदयका आवेग रोमियो अथवा ऑथेलोके समान सरस नहीं है। वह बड़ा जटिल हो गया है। 'क्राइम

एण्ड पनिशमेण्ट' नामक उपन्यासमे विपरीत भावोंकी अभिव्यक्ति इस तरह हुई है कि उसके पात्रोंमे जहाँ एक ओर नीच प्रवृत्ति है, वहाँ दूसरी ओर दिव्य भावोकी प्रधानता है। जॉर्ज मेरेडिथके 'दी ईगोइस्ट'का नायक सचमुच कैसा था, यह न तो वह जान सका और न उसके साथी ही। उपन्यासभरमे उसके चरित्रकी इसी जटिलताका विश्लेषण किया गया है। रवीन्द्र बाबूके 'घर-बाहर' नामक उपन्यासमें सन्दीपके चरित्रमें भी वही जटिलता है। सच तो यह है कि आधुनिक उपन्यासोंमें कितने ही प्रसिद्ध नायकोंके चरित्र ऐसे अङ्कित किये गये हैं कि जब हम उनके संस्कारोंके अनुसार उनपर दृष्टिपात करते है, तब तो हमें उनके चरित्रमे हीनता दिखाई देती है, पर, सत्यकी ओर लक्ष्य रखकर देखनेसे यही कहना पड़ता है कि उनमें उज्ज्वलता भी है। वर्तमान युग परीक्षाका युग है। आधुनिक साहित्यमे रस और तत्त्वका अपूर्व सम्मिलन हो गया है। सच्ची बात यह है रमेश बाबू, कि अतीतका सिर्फ गौरव ही अवशिष्ट रहता है, उसमें जो क्षुद्रता होती है, उसे काल नष्ट कर देता है। इसीसे अतीतसे तुलना करनेपर हमें वर्तमान गौरवपूर्ण प्रतीत नहीं होता। सत्यकी परीक्षासे घबड़ाकर कल्पनाके विलास-विभ्रममें आश्रय मत लीजिए।

लाल साहबने कहा—आपका कहना सर्वथा उचित है। कल्पना-द्वारा कमसे कम उदर-पूर्तिकी सम्भावना नही है, और मेरे लिए सबसे अधिक आवश्यक यही है। बख्शीजी, आप देख तो आइए कि अब कितनी देर है। अगर अधिक देर हो तो कल्पनाका आश्रय लेकर हम लोग क्षुधाको कुछ देर और रोक रक्खें।

लाल साहबने इस प्रकार उस दिन विवादका अन्त कर दिया।

आज लाल साहब नहीं हैं। केवल उनकी स्मृति रह गई है। लाल साहबकी बातें जब मै कर रहा था, तब मेरे एक साथीने पूछा, "वे थे कौन? उन्होंने काम क्या किया है?" मैंने कहा, "भाई, वे कोई नही थे। छत्तीसगढ़के एक छोटे कसबे खैरागढ़मे उनका जन्म हुआ और वही वे जीवन-भर रहे। उन्होने कोई भी बड़ा काम नहीं किया। हँसी-खेलमें ही उन्होंने अपना जीवन व्यतीत कर दिया। पर अन्त तक उन्हें किसीने भी कभी क्षण-

भर भी खिन्न नही देखा। सङ्कट किसपर नही आता, चिन्ता किसे नही होती, पर रणजीतसिहने हँसते हँसते जीवनकी यात्रा समाप्त कर दी।

रहे तुम तो हँसते ही नित्य,
सह लिया हँसकर विकट प्रहार।
और हँसते ही हँसते आज,
छोड़ कर चले गये संसार॥
विज्ञ-जन रहते हैं उद्विग्न,
क्योंकि यह है जीवन-संग्राम।
किन्तु, तुमने तो रणजितसिह,
किया हँसकर ही सार्थक नाम॥

——

शकुन्तला और उत्तर-रामचरितमें नाटकत्व*

हमने देखा कि नाटकमें ये गुण रहने चाहिए : घटनाका ऐक्य, घटनाकी सार्थकता, घटनाओंकी घात-प्रतिघात-गति, कवित्व, चरित्र-चित्रण और स्वाभाविकता।

अब कालिदासके शकुन्तला नाटकके आख्यान-भागको ले लीजिए। दुष्यन्तके साथ शकुन्तलाका प्रेम (उसका अंकुर, उसकी वृद्धि और उसका परिणाम) दिखाना ही इस नाटकका उद्देश्य है। इस नाटकका आरंभ जिस विषयको लेकर हुआ है, उसी विषयको लेकर समाप्ति भी हुई है। इसका मूल विषय प्रेम है, युद्ध नहीं। उस प्रेमकी सफलता या निष्फलताको लेकर ही प्रेम-मूलक नाटककी रचना होती है। शकुन्तला नाटकमें प्रेमकी सफलता दिखाई गई है। अतएव देखा जाता है कि शकुन्तला नाटकमें घटनाका ऐक्य है।

उसके बाद इस नाटकमें अन्य सब चरित्र दुष्यन्त और शन्कुतलाकी प्रेम-कथाको प्रस्फुटित करनेके लिए ही कल्पित हुए हैं। नाटकमें वर्णित सभी घटनायें उसी प्रेमकी धारामें या तो बाधास्वरूप होकर सम्मिलित हुई हैं, या उस प्रेम-प्रवाहको और भी वेगसे आगे बढ़ानेके लिए सहायक बनी हैं। विदूषकसे राजाका झूठ बोलना, एकान्तमें गुप्त रूपसे विवाह, दुर्वासाका शाप, अँगूठीका उँगलीसे गिर जाना : ये घटनायें मिलनके प्रतिकूल हैं। विवाह, अँगूठीका

---

* पृष्ठ ८४-८९ पर छपे हुए 'नाटक' शीर्षक लेखसे सम्बद्ध ।

निकलना और धीवरके द्वारा मिलना, राजाका स्वर्गमें निमंत्रण : ये घटनायें मिलनके अनुकूल हैं। ऐसा एक भी दृश्य इस नाटकमें नहीं है जिसके निकाल डालनेसे परिणाम ठीक वर्णित रूपमें होता। अतएव, नाटकमें घटनाओंकी सार्थकता भी है।

इसके सिवा देखा जायगा कि घात-प्रतिघातमें ही यह नाटक अग्रसर हुआ है। पहले अंकमे ज्यों ही शकुन्तला और दुष्यन्तके मनमें परस्पर मिलनेकी आकांक्षा उत्पन्न होती है त्योंही घर लौट आनेके लिए दुष्यन्तके पास माताकी आज्ञा पहुँचती है। उधर गौतमीकी सावधान दृष्टि, गुप्त रूपसे विवाह, कण्वके भयसे राजाका भाग खड़े होना, दुर्वासाका अभिशाप इत्यादि घटनाओंने कथभागको लगातार वक्र-भावसे आगे बढ़ाया है, उसे सरल भावसे नही चलने दिया।

कालिदासने इस नाटकमें अन्तर्विरोध भी दिखाया है; किन्तु, वह अन्तर्विरोध प्रायः किसी भी जगह अच्छी तरह स्पष्ट नहीं हुआ।

पहले अंकमे शकुन्तलाके जन्मके सम्बन्धमे राजाका कुतूहल वासनाजनित है। शकुन्तलासे ब्याह करनेकी इच्छा दुष्यन्तके मनमें पैदा हुई; लेकिन, असवर्ण-विवाह तो संभव नहीं। इसीसे राजा सोचते हैं कि शकुन्तला ब्राह्मण-कन्या है या नहीं ! यह दुविधा दुष्यन्तको किसी प्रकारके अन्तर्द्वन्द्वमें नियुक्त नहीं कर पाई, पहले ही संदेह-भंजन हो गया। उन्हें मालूम हो गया कि शकुन्तला विश्वामित्रके वीर्यसे उत्पन्न मेनका अप्सराकी कन्या है। वास्तवमें, सन्देह उठते ही उसकी जड कट गई। कारण, दुष्यन्त कहते हैं कि उनके मनमे जब शकुन्तलाके ऊपर आसक्ति उत्पन्न हुई है तब शकुन्तलाको क्षत्रिय-कन्या होना ही होगा। यहाँ कोई अंतर्विरोध नहीं है।

माताकी आज्ञा और ऋषियोंकी आज्ञामे कुछ भी संघर्ष नहीं हुआ। माताकी आज्ञा पहुँचते ही उसकी व्यवस्था हो गई। माधव्य जायँगे राज-माताकी आज्ञाका पालन करने, और राजा जायँगे ऋषियोंकी आज्ञाका पालन करने,—अर्थात्, शकुन्तलाके लिए। तीसरे अंक में जिस समय राजा अकेले हैं उस समय वे सोचते हैं, 'जानत हूँ तप-बल बड़ौ, अरु पर-बस वह तीय' किन्तु, इसके बाद ही उनका सिद्धान्त हो गया कि 'तदपि न वासौं हटि सके,

मेरो ब्याकुल हीय। सीज़र (Caesar) के दिग्विजयकी तरह लालसाकी Vini Vidi Vici,—युद्ध होनेके पहले ही पराजय होती है। उसके बाद इसी अंकमे राजा एकदम प्रकृत कामुक देख पड़ते हैं।

यथार्थ अन्तर्विरोध जो कुछ हुआ है वह पञ्चम अंकमें। दुर्वासाके शापसे राजाको स्मृति-भ्रम हो गया है। किन्तु, शकुन्तलाको देखते ही उनका कामुक मन शकुन्तलाकी ओर खिच जाता है। वे प्रश्न करते हैं—

'घूँघट-पटकी ओट दै, को ठाढी यह बाल।
पूरो दीठ परै नहीं, जाको रूप रसाल॥
यह तपसिनके बीचमें, ऐसी परति लखाय।
लई मनो कोंपल नई, पीरे पातन छाय॥' *

उनका ध्यान शकुन्तलाके रसाल रूपपर ही जाकर जम गया! किन्तु, जब शार्ङ्गरव और गौतमीने उसी रसाल घूँघट-पटकी ओटवालीको पत्नी-भावसे ग्रहण करनेके लिए दुष्यन्तसे कहा, तब दुष्यन्तने कहा, 'तुम लोग यह क्या कह रहे हो?'

गौतमीने शकुन्तलाका घूँघट खोलकर दिखाया। तब राजाने फिर अपने मनमें सोचा—

'बरी कि कबहूँ ना बरी, परी हिए उरभेट।
ठाढी रूप ललाम लै, सन्मुख मेरे भेट॥
सकत न याको लेन सुख, नहि मैं त्याग सकात।
ओसभरे सद कुन्दकों, जैसे मधुकर प्रात॥"

यह यथार्थ अन्तर्विरोध है। एक तरफ लालसा है और दूसरी तरफ धर्मज्ञान है। मनके भीतर युद्ध चल रहा है। तथापि, राजा स्मरण नहीं कर सके कि उन्होंने शकुन्तलासे ब्याह किया है या नहीं। उन्होंने गर्भवती शकुन्तलाको ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया—

---

* मूलके संस्कृत श्लोकोंके बदले इस लेखमें राजा लक्ष्मणसिंह और सत्यनारायण कविरत्नकृत भाषानुवादोंका उपयोग किया गया है जिससे संस्कृत न जाननेवाले पाठकोंका रस-भग न हो।

'इसके गर्भके लक्षण सब प्रकट देख पड़ते हैं। मै क्षत्रिय-धर्मके विरुद्ध इसे कैसे ग्रहण कर सकता हूँ ?'

अबकी शकुन्तलाका मुँह खुला। उसने कहा 'ऐसे शब्दोंसे प्रत्याख्यान करना क्या आपके योग्य है ?' राजाने कानोंमें उँगली देकर कहा 'हरे हरे! तुम मुझे अधःपतित करना चाहती हो ?'

शकुन्तला अँगूठी नहीं दिखा सकी। अँगूठी उँगलीसे गिर गई थी। गौतमीने कहा, 'अँगूठी अवश्य ही नदीके भीतर गिर गई है।' तब राजाने यहाँ तक कि गौतमी तकपर व्यंग करके कहा, 'इसीसे लोग स्त्रियोंको प्रत्युत्पन्नमति कहते हैं,' अर्थात् वे तुरन्त बात बना लेना जानती हैं। यहाँ तक कि, राजा ऐसे कठोर और असभ्य बन गये कि गौतमीने जब कहा, 'यह शकुन्तला तपोवनमें पलकर इतनी बड़ी हुई है। शठता किसे कहते है, यह जानती भी नहीं है,' तब राजाने कहा—

'बिना सिखाई चतुरई, तिरियनकी विख्यात।
पशु-पच्छिनहूँमे लखी, मनुषनकी कहा बात।
लेति पखेरू आनतैं, कोइलिया पलवाय।
तब लग अपने चेंटुअन, जब लग उड़्यौ न जाय॥'

यह सुनकर शकुन्तलाने क्रोधके साथ कहा, 'हे अनार्य, तुम अपने ही समान सबको समझते हो। तुम घाससे ढके हुए कूपके समान धोखेबाज हो। सभीकी वैसी प्रवृत्ति नहीं होती, यह जान रक्खो।' उस समय शकुन्तला क्रोध से फूल रही थी। तब, फिर राजाको संदेह हुआ—

'इसका कोप मेरे मनमें सन्देह उत्पन्न करता है कि कहीं इसका कहना सच्चा ही न हो। रोषसे इसकी आँख लाल हो गई है और कठोर वचन कहती है तो मुखसे शब्द टूटते हुए निकलते हैं। लाल होंठ ऐसे काँपते हैं मानों तुषारका मारा बिम्बाफल। और भौहें यद्यपि सीधी हैं, परन्तु, रोषमें टेढ़ी हो गई हैं।'

तब शकुन्तलाने ऊपर हाथ उठाकर कहा, 'महाराज, आपने मेरा पाणिग्रहण किया है, इसका साक्षी धर्मके सिवा और कोई नहीं है। स्त्रियाँ क्या कभी इस तरह लज्जा छोड़कर पर-पुरुषकी आकाङ्क्षा करती हैं ? मै क्या स्वेच्छाचारिणी गणिकाकी तरह आपके निकट आई हूँ ?'

शकुन्तला रोने लगी। दुष्यन्त चुप थे। हम समझ सकते है कि इस समय दुष्यन्तके हृदयमें कैसी हलचल मची हुई थी! सामने रोती हुई अनुपम सुंदरी उनसे पत्नीत्वकी भिक्षा मांग रही है। उसके सहायक दो ऋषि और एक ऋषि-कन्या है। किन्तु, उधर धर्मका भय उन्हे अपनी ओर खींच रहा है,—एक महासमर हो रहा है। अन्तको धर्म-भयकी ही जय हुई। याद नहीं आता कि एक दृश्यमें इतना बड़ा अन्तर्विरोध और किसी नाटकमें मैंने देखा है या नहीं।

छठे अंकमें राजाने प्रतिहारीसे कहा कि आज मैं धर्मासनके सब कामोंको अच्छी तरह नहीं देख सकूँगा। मन्त्री ही पुरवासियोंके सब मामलोंको देख-सुनकर उनका विवरण मेरे पास भेज दें। कंचुकीको भी यथोचित आज्ञा दी। सबके चले जानेपर राजाने अपने प्रिय वयस्य विदूषकके आगे अपने हृदयका सब हाल कह दिया,—अपना हृदय खोलकर दिखा दिया। इसके बाद चेटी दुष्यन्तके हाथका बनाया हुआ शकुन्तलाका चित्र लेकर आई। राजा उसे तन्मयचित्त होकर देखने लगे।

इसके बाद विदूषक उस चित्रको लेकर चला गया, और प्रतिहारीने आकर राज-काजकी रिपोर्ट राजाके आगे पेश की। राजाने देखा, एक निःसन्तान व्यौपारी समुद्रमें डूब गया है। राजाने उसपर आज्ञा दी कि 'देखो, इस व्यक्तिके बहुत स्त्रियोंका होना संभव है। यदि इसकी किसी स्त्रीके गर्भ हो, तो वह गर्भस्थ सन्तान ही अपने पिताके धनकी अधिकारिणी होगी।' इसके बाद प्रतीहारी जब जाने लगा, तब राजाने फिर उसे बुलाकर कहा, 'उसके सन्तान हो या न हो, इससे क्या मतलब—

'केवल पापिनके बिना, मम परजाके लोग।
जा जा प्यारे बन्धुकौ, विधिबस लहैं वियोग॥
गिने नृपति दुष्यन्तकों, ताही ताकी ठौर।
नगर ढिंढोरा देहु यह, कहो कछू मति और॥'

इसके बाद राजाको खुद अपनी निःसन्तान-अवस्थाका स्मरण हो आता है। वे सोचते हैं, मेरे भी तो कोई पुत्र नहीं है, मेरे बाद पूर्व-पुरुषोंको पिण्डदान कौन देगा? राजा अपनेको धिक्कार देने लगते हैं। इसी समय उन्हें माधव्यका आर्तनाद सुन पडता है। वे सुनते हैं कि कोई पिशाच आकर उनके बन्धुको

पकड़े लिये जा रहा है। सुनकर राजा सुप्तोत्थितकी तरह उठ खड़े होते हैं। वे धनुष-बाण लेकर वयस्यको पिशाचसे छुड़ानेके लिए जाना ही चाहते हैं कि उसी समय इन्द्रका सारथी मातलि माधव्यको साथ लिये उपस्थित होता है और राजासे कहता है कि दैत्य-दमनके लिए इन्द्रदेव उसकी सहायताके प्रार्थी हैं। राजा उस निमन्त्रणको ग्रहण कर लेते हैं।

इस अंकमें अवश्य अन्तर्विरोध नहीं है, किन्तु, राजाके राज-कर्तव्य-ज्ञान, विरह और अनुतापने मिलकर जिस एक अद्भुत करुण-रसकी सृष्टि की है, जगत्‌के साहित्यमें वह अतुलनीय है।

किन्तु, भवभूतिके नाटकमें इन गुणोंका बिलकुल ही अभाव है। हाँ, उसमे घटनाओंकी एकाग्रता अवश्य है। सीताके साथ रामका वियोग और फिर मिलन : ये ही दो बातें इस नाटककी प्रधान घटनायें हैं। प्रथम अंकमे वियोग है, और सातवें अंकमे मिलन है। किन्तु, इस नाटकमें घटनाओंकी सार्थकता नहीं है। दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा : ये सब अंक संपूर्ण रूपसे अवान्तर हैं। इन कई अंकोमें केवल एक ही व्यापार,—रामका जन्म-स्थानमे प्रवेश है। दूसरे अकमें शम्बूकके साथ पञ्चवटीकी सैर, तीसरे अकमे छाया-सीताके सामने रामका विलाप और खेद, चौथे अंकमें जनक, कौशल्या और अरुन्धतीके साथ लवका परिचय, पाँचवे अंकमें लव और चन्द्र-केतुका युद्ध और छठे अंकमे कुशके मुखसे रामका रामायणगान सुनना वर्णित है। इनके न रहनेपर भी सीताके साथ रामका मिलन हो सकता था। इस नाटकमें जो कुछ नाटकत्व है सो प्रथम और सप्तम अंकमें।

प्रथम अंकमे राम अष्टावक्र मुनिके आगे प्रतिज्ञा करते हैं—

'मोह, दया, सुख, सम्पदा, जनक-सुता वरु होहि।
प्रजा-हेत तिनहूँ तजत, बिथा न व्यापहि मोहि।'

इसी जगह नाटकका आरंभ है। इसके बाद चित्रपट देखते देखते सीताकी इच्छा हुई कि मै फिर तपोवनके दर्शन करूँ। इसके साथ परिणामका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। किन्तु, यहाँपर भविष्यके बारेमे कुछ इशारा मौजूद है। बादको दुर्मुखने आकर रामसे सीताके लोकापवादका हाल कहा। इसकी यह चरम सार्थकता है, क्योंकि इसीके कारण राम और सीताका विच्छेद होता है।

रामने कुछ देरतक शोक करके सीताको वन भेज देनेका पक्का इरादा कर लिया। यहाँतक तो नाटक चलता रहा। इसके बाद आगेके पाँच अंकोंमें नाटकत्व स्थगित हो जाता है। सहस्र-रजनी-चरित्रकी कहानी की तरह आगे कहानीके भीतर कहानी चलती है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि सहस्र-रजनी-चरित्रमें जो कहानियाँ हैं उनमे मनोहरता है, किन्तु, यहाँ उसका अभाव है।

सातवें अंकमें राम वाल्मीकिकृत 'सीता-निर्वासन'का अभिनय देख रहे है। यह वाल्मीकिकी रामायणमें वर्णित सीताके पातालप्रवेशकी घटनाको लेकर रचित है। किन्तु, नाटकमें इस अभिनयकी कोई विशेष सार्थकता नहीं है। अभिनय देखते देखते राम शोक-विह्वल और मूर्च्छित हो पड़ते हैं। सीता आकर रामको सचेत करती है। इसके बाद दोनोंका मिलन हो जाता है,—बस।

सच कहा जाय तो इस नाटक-भरमे सीता-निर्वासन और लवके साथ चन्द्रकेतुका युद्ध : ये दो ही घटनायें हैं। इनमें भी एक अवान्तर है। युद्ध न रहनेसे भी नाटककी कोई हानि नहीं थी।

इस नाटकमें अन्तर्विरोध नहीं है। ज्यो ही सीताके लोकापवादकी खबर मिली त्योंही सीताका निर्वासन हो गया। हाँ, रामका विलाप यथेष्ट है। किन्तु, उसमे 'यह करूँ या न करूँ' यह भाव नही है।—संकल्पके साथ कर्तव्यका युद्ध नहीं है।

नाटकके नाटकत्वका और एक लक्षण है चरित्र-चित्रण। पहले दिखाया जा चुका है * कि उत्तर-रामचरितमें कोई भी चरित्र परिस्फुट नहीं हुआ। किन्तु, अभिज्ञानशाकुन्तलमें चित्रण-कौशल बहुत अधिकता के साथ दिखाया गया है। अतः, उस विषयकी पुनरुक्तिका यहाँ प्रयोजन नहीं है।

कवित्व शकुन्तलामें भी है। किन्तु, उत्तर-चरितमें हम उससे अधिक कवित्व देखते हैं।

---

* 'कालिदास और भवभूति' नामक आलोचना ग्रथसे यह लेख लिया गया है। चरित्र-चित्रण आदिके सम्बन्धमें उसमे अलग अलग अध्याय हैं जिन्हें रुचि हो वे उसमेसे पढ सकते हैं।

वर्तमान हिन्दी कविता *

वर्तमान हिन्दी कविताके किसी भी पाठकको तीन बातें मुख्य रूपसे दीख पड़ेंगी : कल्पना, चिन्तन और अनुभूति। कल्पनामें कवि वर्तमान जगतकी विरूपताओं और विसदृश परिस्थितियोंसे क्लान्त होकर एक अनुकूल और मनोरम जगतकी सृष्टि करता है। एक युग था जब संसारके काव्य-जगतमें कल्पनाका ही राज्य था। कवि इस दुनियाके समानान्तर धरातलपर ही एक ऐसी दुनियाकी सृष्टि करता था जहाँ प्रेमिका और प्रेमी तो हमारे जैसे ही होते थे, पर, जहाँके क़ायदे-कानून अलग होते थे। अँगरेजी साहित्यमें जिसे रोमांटिसिज़्मका युग कहते हैं वह कल्पनाका ही युग था, किन्तु, पौराणिक युगकी कल्पनासे उसमे अन्तर था। राधा-माधवकी मोहक कल्पनासे भी हमारी वर्तमान कल्पना भिन्न है। क्या भिन्न है और कितनी भिन्न है, यह आगे देखा जायगा।

संसारकी इस बहुधा-विस्तृत लीलाको देखकर प्रत्येक आदमी कुछ चिन्ता करता है। कवि भी करता है। कवि जब चिन्ता या विचार करने लायक परिस्थितिमे पहुँचता है, तब वह प्रायः कल्पनाकी अवस्था पार कर चुका होता है। इसीलिए, वह किसी चीज़को शुद्ध मनीषीकी नाईं नहीं देख सकता। उसे वह कल्पनाका आवरण पहिना देता है। दिगन्तके एक छोरसे दूसरे छोर तक फैले हुए नील नभोमण्डल, शून्यमें बिखरे हुए मणि-सन्निभ ग्रह-नक्षत्रों और चन्द्रिकाधौत धरित्रीको देखकर कवि चाहे और कुछ चिन्ता क्यों न करे, एक बार श्वेत वस्त्र पहने हुए विततकेशा भूरिभूषणा नर्तकी, या

---

* 'पाथेय,' 'नीरजा,' 'चित्ररेखा' और 'रेणुका'की आलोचना।

प्रिय-वियोगमें कातर खंडिता रजनीकी, या इसी प्रकारकी अन्य किसी वस्तुकी कल्पना किये बिना वह रह नहीं सकता। द्रष्टा और दार्शनिक सत्यकी चिन्ता करके, उसे वास्तविक रूपमें रखनेकी कोशिश करते हैं, परन्तु, कवि सत्यको सुन्दर करके कहनेकी इच्छा रखता है।

कवि अपने सीमित जीवनमें जिस सुख-दुःखका अनुभव प्राप्त करता है, उसे वह असीम जगतमें भी अनुभव करता है। प्रिय-वियोगका अनुभवी कवि सूर्य, चन्द्र, ताराको देखकर असीम विश्वमें उस अपठनीय पत्रका अनुभव करता है जिसे उसका प्रिय पठाया करता है। सनसनाती हुई पुरवैया हवा प्रियका सन्देश दिये बिना उसकी करुण दशापर हँसकर निकल जाती है, बुलबुल एक अव्यक्त भाषामें उससे सहानुभूति दिखा जाती है, कोकिल उसके साथ ही मनभावनके विरहकी कूक कूक जाती है। कम साहसका कवि इसे आत्मा-परमात्माकी मिलन-विरह-वेदना कहा करता है,—अपनेको न समझकर भी समझनेका भान करनेवाला कवि इसे दर्शनकी उलझी युक्तियोंसे समझाया करता है।

चिन्तनमें कवि संसारको देखता है, और सोचता है; यह सब क्या हो रहा है, कैसे चल रहा है, क्यों चल रहा है? अनुभूतिमें वह अनुभव करता है कि वह क्या हो गया है, विश्व क्या हो गया है,—कौन-सी वेदना, कौन-सा विषाद, कौन-सा उल्लास, संसारको किस रूपमें परिणत कर रहा है! कल्पनामें वह इस जगतके समानान्तर जगतकी सृष्टि करता है जिसमें इस जगतकी असुन्दरतायें और विसदृशतायें नहीं रहतीं; पर अनुभूतिमें वह इसी विश्वको अपने उल्लास, विषाद और वेदनाओंके उपादानसे नये रूपमें रचा करता है।

कल्पनाशील कवि सुनहरे पंखोंसे उड़कर ऊपर उठ जाता है,—उसके पैर ज़मीनपर नहीं होते, पर वह इसी दुनियाकी बोलीमें बोलनेको बाध्य होता है, परन्तु अनुभवी कवि इस दुनियापर सदा जमा रहता है, वह इसे छोड़ नहीं सकता। चिन्ताशील कवि सारे विश्वमें चक्कर मारा करता है, पर, अनुभवी कविको घेरकर सारा विश्व चक्कर मारता रहता है। कल्पना, चिन्तन और अनुभूतिके प्रस्तारसे,—परम्यूटेशन और कॅम्बिनेशनसे, वर्तमान हिन्दी-कविताका चार-पंचमांश बन रहा है। इन्हींको सही या ग़लत समझनेके कारण वर्तमान हिन्दी कविताकी समीक्षा सही वा ग़लत रास्तेपर जा रही है।

'पाथेय'का कवि* चिन्तनाशील है। उसने संसारको देखकर जितना कुछ सोचा है उतना हिन्दीके कम ही कवियोंने सोचा होगा। 'पाथेय'को देखकर यह अनुमान कर सकना मुश्किल है कि यह कवि कभी कल्पनाशील भी रहा होगा; लेकिन, उसका अनुभवी होना निःसन्दिग्ध है। यह चिन्तनसे आरम्भ करता है और चिन्तित वस्तुको अपने भीतर अनुभव करनेकी कोशिश करता है। उसके विचार जब अनुभूतिके रूपमें प्रकट होते हैं तब चीज़ लाजवाब होती है, परन्तु, सदा वह चिन्तनको अनुभूति बनानेमे सफल नहीं होता। ऐसी अवस्थामे उसकी कविता नीरस और रूक्ष हो जाती है। 'पाथेय' एक ही साथ सरस और नीरस रचनाओंका अद्भुत संग्रह है।

कवि इस प्रकार चिन्ता करता है : न जाने हम कितने जन्मोसे कितने रूपोंमे चक्कर मारते इस अवस्था तक पहुँचे हैं। इन श्यामायमान वन्य वीरुधोंमें, इन बहुधा चित्रित मृग-पक्षियोंमें, इन विविध कार्यप्रवृत्त मनुष्योमे अगर पूर्व-जन्मके कोई परिचित हो,—और होना कुछ असम्भव नही है, तो उनके पहचाननेका क्या उपाय है? इसमे बहुत ऐसे होंगे जिन्हे रोते छोड़कर मै चल बसा हूँगा; कितने ही ऐसे भी होंगे जो मुझे रोता छोड़ आये होंगे,—काश! हम उन्हे पहचान पाते!

'देखकर यह समुदाय-समाज, जान पड़ता है मुझको आज,
सभीसे है मेरी पहचान,—सभीसे है सम्बन्ध महान।
विगत जन्मोंमें भी बहु बार, मिले हैं हम सब इसी प्रकार,
हँसे-खेले है मिल-जुल संग, रहा है प्रेम-प्रसंग अभंग।
नहीं अब यद्यपि वह सब याद, तदपि उसका आह्लाद-विषाद,
नही हो गया समस्त समाप्त, अभीतक है उर-उरमे व्याप्त।'

यहाँ तक आकर उसका चिन्तन गाढ़ होकर अनुभूतिका रूप धारण करता है। ठीक ही तो है,

'तभी तो एक तनिक-सी दृष्टि, कर गई अतुल पुलककी वृष्टि!
न होनेपर भी कारण ज्ञात, हो गया है रोमाञ्चित गात।

* श्री सियारामशरण गुप्त।

बोलकर दो ही मीठे बोल, उठाकर एक मृदुल हिल्लोल;
अरे भाई, तुममेंसे कौन, हो गया मेरे भीतर मौन ?
प्रणत प्रणाम ! उसे है शत शत प्रणत प्रणाम !'

पढ़ते पढ़ते हठात् पुराकालके कविकी बात याद आ जाती है—

'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमभूतपूर्वं
भावस्थिराणि जन्मान्तरसौहृदानि ॥' (कालिदास—शाकुंतल)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कविने सोचकर,—चिन्तन करके, इस जन्मान्तर-सम्बन्धका साक्षात्कार किया था; पर, अन्त तक वह मनीषी नहीं रह सका है। अत्यन्त करुण भाषामें वह अपने पूर्वजन्मके अपराधोंके लिए क्षमा-याचना करता है। उसकी इस क्षमा-याचनामें कोई तत्त्व-चिन्तन नहीं है। वह भूल जाता है कि उसका यह सम्बन्ध चिन्तित है। वह सरल भावसे, कातरताके साथ, कह उठता है—

'पूर्वमें मैंने किसी प्रकार, किया हो यदि कुछ दुर्व्यवहार;
निरंकुश होकर क्रूर-अबाध, किया हो गुरुतर गुरु अपराध;
अकारण ही करके विद्वेष, हृदयको पहुँचाई हो ठेस;
क्षमा उसके निमित्त शत बार, माँगता हूँ मैं हाथ पसार !
नहीं हैं स्वयमपि यद्यपि याद, मुझे वे अपने प्रचुर प्रमाद;
आजके मेरे दोष तमाम, उसी दुष्कृतिके हैं परिणाम।
इन्हें भूलोगे प्रिय किस भाँति ? भुलाना होगा, हो जिस भाँति।'

'पाथेय'में एक ही सुर नाना विचित्र रागोंमें बज उठा है। कवि सोचता है, 'वह निरन्तर चलता ही आया है, निरन्तर चलता ही जायगा, कोई उसे रोक नहीं सकता, कहीं वह रुक नहीं सकता। यह संसार उसे अपने गुणोंके जालसे न जाने कहाँसे खींचकर लाया है:

'निज गुण-जालसे तुम्हारा देश
खींच बड़ी दूरसे, हे बन्धु, मुझे लाया है।'

मार्गमे दुस्तर पर्वत है, दुरन्त विघ्न हैं, अन्धकार है, भीति है; पर उसे ये बातें रोक न सकेंगी,—वह रुक न सकेगा। जहाँ कविकी यह चिन्ता उसके अन्तरकी अनुभूतिके रूपमें व्यक्त हुई है वहाँ कविता अत्यन्त सरस और मोहक हुई है। 'पाथेय'की एक भी कविता रूपकोंकी दुस्तर कल्पनासे भाराक्रान्त नही हुई, भाषाकी अपरिपक्वताके कारण दुरूह नही हुई, विचारोंके छिछलेपनसे अस्पष्ट नहीं हुई; परन्तु यत्र-तत्र उसमें रूखी मनीषाका 'स्रोत' जरूर बह रहा है। क्योंकि, सर्वत्र 'पाथेय'में अनुभूति चिन्तनमे, वेदना विचारसे और संवेदन मनीषा से आक्रान्त हुआ है।

किन्तु, **'नीरजा'** चीज़ ही अलग है। उसमें विचारका नही, वेदनाका प्राधान्य है। श्रीमहादेवीजीकी कविताके प्रशंसको और आलोचकोने कभी कभी यह बतानेका प्रयत्न किया है कि वे कल्पना-प्रधान कवि हैं। स्वयं महादेवी वर्माने अपनी दुःखानुभूतिको प्रतिक्रियाके रूपमे समझानेका प्रयत्न किया है! वे कहती हैं, 'जीवनमें मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रामे सब कुछ मिला है; परन्तु, उसपर दुःखकी छाया नही पड़ सकी। कदाचित् यह उसीकी प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगती है।' आधुनिक मनोविज्ञानके पंडितोने बताया है कि मनुष्यकी कल्पना और उसके स्वप्न उसके असन्तुष्ट मनकी रचना हैं। उसे जो चीज़ चाहिए, वह अगर नहीं मिलती तो मन कल्पनाद्वारा, स्वप्नोंद्वारा, उसे पानेकी कोशिश करता है। कविकी कल्पना, इसीलिए, वास्तविकताकी एक प्रतिक्रिया-मात्र है। विदुषी महादेवीने कवि महादेवीको भी इसी सिद्धान्तसे समझनेकी कोशिश की है; पर, 'नीरजा'की कवयित्रीने 'नीहार'की भाषामें इसका प्रतिवाद किया है। विदुषी महादेवीसे कवि महादेवी कहती हैं:—

'कैसे कहती हो सपना है, अलि, उस मूक मिलनकी बात ?
भरे हुए अब तक फूलोंमें, मेरे आँसू, उनके हास!'

असल बात यह है कि महादेवीजी अनुभूति-प्रधान कवि हैं। उनकी अनुभूति इतनी गीली है कि उनकी कल्पनाकी पाँखें उससे भीगकर केवल फड़फड़ाने-भरके योग्य रह गई हैं,—वे भूमि छोड़कर ऊपर उड़ नही सकतीं। कविने अत्यन्त विश्वासके साथ अपने कवित्व-जीवनके प्रभातकालमें ही जो कुछ

कहा था, वह अब भी सत्य है। 'नीरजा' में महादेवीजीकी भाषा अधिक साफ हुई है, वक्तव्य ज़्यादा स्वच्छ हुआ है, पर वह विश्वास ज्योंका त्यों रह गया है कि वास्तविकतायें कितनी भी कठोर क्यों न हों, वे मेरी कल्पनाको नष्ट नहीं कर सकेंगी। क्योंकि, इस कल्पनाका एक आधार है, इसके पैर ज़मीनपर हैं, वह हवाई किला नहीं है :

'मैं अनन्त पथमें लिखती जो सस्मित सपनोंकी बातें,
उनको कभी न धो पायेंगी अपने आँसूसे रातें।'

'नीहार' लिखते समय महादेवीजी अपने लक्ष्यको ठीक समझ नहीं सकी थीं। वे अन्धकारमें टटोलती-सी जान पड़ती हैं। उन्हे अगर उन दिनों आत्म-बोध होता, तो रूपककी इस जटिलतामें अपने सहज भावोंको इतना अस्पष्ट न कर देतीं। उन्हें उस समय अपनी अनुभूति को 'सस्मित सपना' न कहना पड़ता। आज अपनी पुरानी भूलको मानों संशोधन करनेके लिए वे 'नीरजा'में कहती हैं :

'सपने औ' स्मित जिसमें अंकित, सुख-दुखके डोरोंसे निर्मित;
अपनेपनकी अवगुंठन बिन मेरा अपलक आनन सूना,
तेरी सुधि बिन क्षण क्षण सूना!'

लेकिन, कभी कभी श्रीमहादेवीजीसे एक भारी भूल हो जाती है, यानी वे कोमल पदावलीके लिए अर्थका भी बलिदान कर दिया करती हैं। एक जगह एक ही पदमें उन्होंने शेफाली और हरसिंगारके फूलोंका वर्णन किया है। मानो ये दो चीज़ें हो! और भी आश्चर्य यह है कि प्रसंग वसन्तके रूपकका है, मगर, शेफाली या हरसिंगार शरत्मे फूलते हैं :

'सकुच सलज खिलती शेफाली, अलस मौलश्री डाली डाली;
बुनते नव प्रबाल-कुंजोंमें, रजत-श्याम तारासे जाली;
शिथिल मधु-पवन, गिन गिन मधुकण,
हरसिंगार झरते हैं झर झर!'

महादेवीजीकी कविताओंमें शुरूसे ही अनुभूतिकी प्रधानता रही है। प्राचीन आलंकारिकोंने इस अनुभूतिको,—जिसे वे संस्कार कहते हैं, तीन भागोंमें विभक्त

किया है: सात्त्विक, राजस और तामस। तामस अनुभूतिमें कवि स्वयं थका-सा प्रतीत होता है और उसके पाठक भी कविता पढ़कर हताश और क्लान्त हो उठते हैं। 'राजस अनुभूति आसक्ति-प्रधान होती है,—उसमें कविकी आसक्तिका वेग तीव्र होता है और उसका पाठक भी आसक्तिका अनुभव करता है,—उसका मन हल्का नहीं हो पाता। सात्त्विक अनुभूतिसे ही रसका परिपाक होता है,—कवि उस समय अपनी आसक्तियोंपर विजयी होता है। वह जो कुछ कहता है, साफ कहता है, हृदयग्राही कहता है,—पाठक उससे आनन्द पाता है, उसके चित्त पर दुःख या सुखका बोझ नहीं होता। महादेवीजीकी कविताओंमें राजस और सात्त्विक अनुभूतियाँ पास ही पास पड़ी दिखाई देती हैं। जहाँ वे आसक्तियोंसे ऊपर उठ जाती हैं वहाँ आसक्तियाँ उन्हें ले डूबती हैं। आसक्तिकी प्रबलताके समय उनकी भाषा दुर्बोध, बोझिल और अस्पष्ट हो उठती है। वे स्वयं भूल जाती हैं कि उन्हें क्या कहना है। उस समय वे बेसुध हो जाती हैं, और इस बेसुधपनमें कुछका कुछ लिख जाती हैं:

'मैं अपने ही बेसुधपनमे, लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती!'

महादेवीजीकी अनुभूति सहज-सिद्ध या अयत्न-साधित है। सियारामशरण-जीकी अनुभूति विचार-सिद्ध और यत्न-साधित है। सियारामशरण चिन्तनसे शुरू करते हैं और अनुभूतिमें समाप्त करते हैं,—यह क्रिया स्वाभाविक है, इसलिए, वे ऐसी अवस्थामें चीज़ अच्छी कह जाते हैं। महादेवीजी अनुभूतिसे ही शुरू करती हैं और अनुभूतिमें ही प्रायः अन्त करती हैं। यह और भी स्वाभाविक है, इसलिए, उनका कहना हृदयहारी होता है; मगर, एक जगह सियारामशरण उनसे अधिक भाग्यशाली हैं। चिन्तनसे अनुभूतिकी ओर जाना कविजनोचित कार्य है, सियारामशरण ऐसा ही करते हैं। अनुभूतिसे चिन्तनमें जाना कवि-कर्मका परिपन्थी है,—महादेवीजी अपनेको चिन्तनके प्रलोभनसे बचा नही सकतीं। उन्होने कहा है, 'याद नही आता, जब मैंने किसी विषय-विशेषपर, या वाद-विशेषपर, सोचकर कुछ लिखा हो।' 'लेकिन, याद हो या न हो, उन्होंने ऐसा काम किया ज़रूर है। अनुभूतिकी भाषा कृत्रिम, आलंकारिक और भाराक्रान्त हो जाती है। 'नीरजा'की एक कविता उद्धृत की जाती है। आदि और अन्तकी चार लाइनें सहज-सिद्ध या अयत्न-साधित हैं,

अतएव, साफ़ हैं, चोट करनेवाली हैं। बीचकी चार लाइनें चिन्तित और मार्जित हैं अतएव कृत्रिम और अस्पष्ट हैं :

'बताता जा रे अभिमानी !
कण कण उर्व्वर करते लोचन, स्पन्दन भर देता सूनापन;
जगका धन, मेरा दुख निर्धन, तेरे वैभवकी भिक्षुक या
कहलाऊँ रानी ?
बताता जा रे अभिमानी !
दीपक-सा जलता अन्तस्तल, संचित कर आँसूके बादल;
लिपटा है इससे प्रलयानिल, क्या यह दीप जलेगा तुझसे
भर हिमका पानी ?
बताता जा रे अभिमानी !
चाहा था तुझमें मिटना भर, दे डाला बनना मिट मिट कर
यह अभिशाप दिया है या वर; पहली मिलन-कथा हूँ या मैं
चिर-विरह कहानी ?
बताता जा रे अभिमानी !'

यह ज़रूर है कि 'नीरजा' गीतोंकी पुस्तक है। जहाँ शब्द और अर्थ हार जाते हैं, वहीं गान शुरू होता है।

'चित्ररेखा'के कविका * विश्वास है कि वह कल्पनाकी अवस्था पार कर चुका है। अब अनुभूति उसे कल्पनासे अधिक रुचिकर जान पडती है, क्योंकि, "अनुभूतिमें अपनेपनकी सारी उमंग प्रवाहित नदीकी भाँति एक स्थानपर स्थित होना नहीं जानती। अन्य साधनोंके अभावमें उसके प्रकाशित होनेके लिए आँसूकी धारा ही पर्याप्त है। ऐसी अवस्थामें अन्तर्जगत् अपनेको खींचकर करुण रसकी परिधिमें ले जाता है और महाकवि भवभूतिके 'एको रसः करुण एव' अथवा मीराके 'रैन अँधेरी विरह-घेरी तारा गिणत निसि जात'में अपनेको समर्पित कर देता है।"

---

* प्रो० रामकुमार वर्मा।

'चित्ररेखा' की कुछ कवितायें बड़ी सरस कही गई हैं; मगर, सारी 'चित्ररेखा' उतनी सरस नहीं है। कवि यद्यपि कल्पनासे अनुभूतिको अधिक पसन्द करने लगा है, पर, वह न तो कल्पनाका जाल पूर्णतया छिन्न कर सका है और न पूरी मात्रामे वक्तव्य अर्थका अनुभव कर पाया है। वह गाता है :

'यह तुम्हारा हास आया
इन फटे-से बादलोंमें कौन-सा मधुमास आया!
आँखसे नीरव व्यथाके दो बड़े आँसू बहे हैं,
सिसकियोंमें वेदनाके व्यूह वे कैसे रहे हैं!
एक उज्ज्वल तीर-सा रवि-रश्मिका उल्लास आया।
आह वह कोकिल न जाने क्यो हृदयको चीर रोई,
एक प्रतिध्वनि-सी हृदयमे क्षीण हो हो हाय, सोई,—
किन्तु, इससे आज मै कितने तुम्हारे पास आया
यह तुम्हारा हास आया।'

किसी भी सहृदयको इस कवितामें एक बात साफ नज़र आयेगी। कवि अनुभव करनेकी कल्पना करता है। जब वह कहता है, 'आह, वह कोकिल न जाने क्यो हृदयको चीर रोई', तो मानो उसे एक अस्पष्ट वेदनाकी अनुभूति होती रहती है; पर, जब आगे 'किन्तु' लगता है, तो सहज ही समझमें आ जाता है कि वह कुछ सोचने जा रहा है। जहाँ अनुभूतिका वेग प्रबल होता है वहाँ 'किन्तु'को स्थान नही रहता, वहाँ 'तो भी'का शासन होता है। *बाउलोंके एक गानमें बताया गया है, प्रेमका प्रतीक है 'तो भी', क्योंकि, प्रेम अपूर्णताको पूर्ण करता है, और ज्ञानका प्रतीक है 'किन्तु', क्योंकि ज्ञान अपूर्णताकी खोजमें ही व्यस्त रहता है। राधिकाने एक बार प्रेमका क्या ही सुन्दर परिचय दिया था—

'यो वेदयद्विविदिषुं सखि वेदनं यत् या वेदना तदखिलं खलु वेदनैव।
प्रेमो हि कोऽपि पर एव विवेचने सत्यन्तर्दधात्यलमसावविवेचनेऽपि।'

[अर्थात्, 'हे सखि, जिज्ञासुको वह चीज़, जिसे 'वेदना' (=अनुभूति) कहते हैं, समझाना एक वेदना (=पीड़ा) ही है। प्रेम ऐसी वस्तु है जिसकी

* बङ्गालका एक भिक्षुक सम्प्रदाय।

अगर विवेचना की जाय तो वस्तु ही अन्तर्धान हो जाती है, और अगर विवेचना न करो, तो वह अस्पष्ट ही रह जाती है !']

श्री रामकुमार वर्माकी कल्पना और अनुभूतिके बीच उनका चिन्तन सेतुका काम करता है। वे प्रायः अपनी कल्पनाको अनुभूतिका रूप देनेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु, वह अनुभूति प्रायः उनके पाण्डित्यके गोरखधन्धेमें अपनी राह भूल जाती है। जिसे वे 'अनुभूति' कहते हैं,—'जो प्रवाहित नदीकी भाँति एक स्थानपर स्थिर होना नहीं जानती,' वह कल्पनाका चिन्तन-साधित रूप है। कल्पना और अनुभूति दोनों दो चीजें हैं। उनके सामंजस्यको पाण्डित्य कहा जा सकता है, कवित्व नहीं। 'चित्ररेखा' इसी सामंजस्यके कारण अस्पष्ट और दुर्बोध हो गई है। जहाँ पंडित रामकुमार कवि रामकुमारके आगे आगे मार्ग-दर्शनका काम नहीं करते वहाँ कविता भी सरस हुई है।

विशुद्ध अनुभूतिमें यह स्मरण ही नहीं रहता कि अनुभवी किस प्रणालीसे अनुभव करता है। 'चित्ररेखा'का कवि अनुभूतिके भावावेशमें अपनेको भूल नहीं सकता, कल्पनाको भूल नहीं सकता और अपने ज्ञानको भी नहीं भूल सकता। 'नीरजा'की अस्पष्टता कविके बेसुधपनके कारण है, और 'चित्ररेखा'की अस्पष्टता अतिरिक्त आत्म-चैतन्यके कारण है। 'नीरजा'की दुर्बोधता अनुभूतिसे चिन्तनकी ओर लौटनेके कारण है और 'चित्ररेखा'की दुर्बोधता कल्पनासे अनुभूतिकी ओर दौड़नेके कारण है। 'नीरजा'का सौन्दर्य अनुभूतिकी गम्भीरताके कारण है और 'चित्ररेखा'में स्थान-स्थानपर पाया जानेवाला सौन्दर्य कल्पनाकी उड़ान और चिन्तनके सामंजस्यके कारण है। कल्पना और चिन्तनका सामंजस्य कविजनोचित हो सकता है; पर, कल्पना और अनुभूतिका सामंजस्य पंडितकी बुद्धि ही कर सकती है। अनुभूति अन्तिम स्थान है। वहाँसे चिन्तनकी ओर लौटना कवित्वका परिपंथी है, कल्पनाकी ओर लौटना उसका विघातक है।

'रेणुका'का कवि* जवान है। उसे न तो चिन्तन करनेकी फुरसत है और न अनुभव प्राप्त करनेका अवसर। जवानीके जोशमें वह बादलोंपर घर

---

* श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

बनानेके लिए चल पडा है। उसकी धमनियोंमें जो गरम रक्त द्रुत वेगसे संचारित हो रहा है, उसने उसे चंचल बना दिया है। एक बार भी उसने नही सोचा कि आसमानमें घर बनाना असम्भव है। उसने परम्परासे प्राप्त कुछ सहज सत्योंको स्वीकार कर लिया है। इन सत्योंके दूसरे पहलू भी हो सकते हैं, यह उसने कभी सोचा ही नहीं। उसकी इस जोश-भरी मस्तानी चालको देखकर उमरके बूढ़े, पर हृदयके जवान, साहित्यिकोने कहा है, 'शाबाश मेरे दोस्त!' भीतरसे बूढे, पर ऊपरसे तरुण, सहृदयोने कहा है, 'गिर भी पड़ते हैं दौडकर चलनेवाले!' प्रतिद्वन्द्वी युवकोंने कहा है, 'धत्तेरेकी!'

मगर 'रेणुका'का कवि सचमुच मस्ताना है। किसीने उससे कहा—'संसार दरिद्रतासे कातर है। उसे विजातीय उपादान चूस रहे हैं, यह एक भयंकर अन्याय है।' 'रेणुका'का कवि मान गया कि बात ठीक है। उसने हुंकारके साथ अपनी सरस्वतीका आह्वान किया :

'क्रान्तिधात्रि कविते जाग उठ, आडम्बरमे आग लगा दे,
पतन पाप पाखंड जलें, जगमें ऐसी ज्वाला सुलगा दे!
विद्युत्की इस चकाचौधमें, देख दीपकी लौ रोती है,
अरी हृदयको थाम, महलके लिए झोपड़ी बलि होती है!
देख, कलेजा फाड़ कृषक, दे रहे हृदय-शोणित की धारें,
बनती ही उन पर जाती हैं वैभवकी ऊँची दीवारें!
धन-पिशाचके कृषक-मेधमें नाच रही पशुता मतवाली,
आगन्तुक पीते जाते है, दीनोंके शोणितकी प्याली!
उठ वीरोंकी भावरङ्गिणी, दलितोके दिलकी चिनगारी,
युग-मर्दित यौवनकी ज्वाला, जाग जाग री क्रान्ति-कुमारी!
लाखों क्रौंच कराह रहे हैं, जाग आदिकविकी कल्याणी,
फूट फूट तू कवि-कंठोंसे, बन व्यापक निज युगकी वाणी!'

'रेणुका'का कवि हमारी उन सभी चोटोंसे फायदा उठाता है जिन्हे प्रतिकूल परिस्थितियोंके कारण हमारा हृदय सह चुका है। वह कृषकोंके नामपर रुलाता है, वैशाली और नालंदाके नामपर हमें उत्तेजित करता है, मिथिला और दिल्लीके नामपर हमे 'अपना' बना लेता है। यही उसकी विशेषता है,—यही उसकी दुर्बलता है।

'रेणुका'के कविकी कल्पना बडी मधुर है, क्योंकि, हम उसे कभी पा न सकेंगे। अनुभूतिकी गम्भीरता तो दूर,—उसमें छायामात्र भी नहीं है। हाय, हम लोग किस असुन्दर जगत्में वास कर रहे हैं !

'मिटता लोचन-राग यहाँपर, मुरझाती सुन्दरता प्यारी,
एक एक कर उजड़ रही है, हरी भरी कुसुमोंकी क्यारी।'

हमारा कवि इस दुनियामें रुकना नहीं चाहता :

'मैं न रुकूँगा इस भूतल पर, जीवन-यौवन-प्रेम गवाँकर,
वायु, उड़ाकर ले चल मुझको, जहाँ कहीं इस जगसे बाहर !
मरते कोमल वत्स यहाँ, बचती न जवानी परदेशी;
मायाके मोहक वनकी, क्या कहूँ कहानी परदेशी !'

इस असुन्दर संसारसे वह उकता चुका है। यह बात नहीं कि वह सब समय नक्षत्र-लोकमें ही अपने सपनोंकी रचना करे। वह खेतोंमें भी आना चाहता है, झोंपड़ियोंमें भी जाना चाहता है; पर, उस समय भी उसकी इच्छा वहाँ मोहक बनकर रहने की है, सुन्दर बनकर रहनेकी,—वास्तविकताकी कठोरताओंको कोमल बना देनेकी है। वह सौ फ़ीसदी कल्पनाका कवि है। उसकी कविता पुकारकर कहती है :

'आज न उडुके नील कुंजमें स्वप्न खोजने जाऊँगी,
आज चमेलीमें न चन्द्र-किरणोंसे चित्र बनाऊँगी;
अधरोंमें मुसकान न लाली बन कपोलमें छाऊँगी,
कवि, तेरी किस्मत पर भी मैं आज न अश्रु बहाऊँगी !
नालन्दा-वैशाली में तुम रुला चुके सौ बार,
धूसर भुवन, स्वर्ग-ग्रामोंमें कर पाई न विहार—
आज यह राजवाटिका छोड़
चलो कवि वन-फूलोंकी ओर !'

× × × ×

स्वर्णांचला अहा खेतोंमें उतरी संध्या श्याम परी,
रोमन्थन करती गायें आ रहीं रौदतीं घास हरी;

घर-घरसे उठ रहा धुआँ जलते चूल्हे बारी बारी,
चौपालोंमे कृषक बैठ गाते, कहँ अटके बनवारी।
पनघटसे आ रही पीत-वसना युवती सुकुमार,
किसी भाँति ढोती गागर यौवनका दुर्वह भार—
बनूँगी मैं कवि इसकी माँग,
कलस, काजल, सिन्दूर सुहाग !'

'रेणुका'का कवि कल्पनाका कवि है, जवानीका कवि है,—जोश, उमंग और स्वप्नोंका कवि है। उसे देखकर खुश होना स्वाभाविक है, घबराना स्वाभाविक है, ईर्ष्या करना भी स्वाभाविक है। उसमे गुण है, उसमें दर्प है, उसमे दोष भी हैं। महादेवीजीकी तरह एक 'तो' या 'किन्तु'में अपना वक्तव्य व्यक्त कर देनेकी कला उसे नहीं आती, और न सियारामशरणजीकी तरह अत्यन्त सहज शब्दोंमें गम्भीर अर्थ भर देनेका ही उसे अभ्यास है। लेकिन, उसकी कल्पना मोहक होती है, उसकी भाषा चपल होती है, उसका कथन चोट करनेवाला होता है। वह उस जातिका कवि है जिसकी कविताकी समीक्षाके लिए उपमाओं और रूपकोंकी सृष्टि करनी पडती है, जिन्हे देखकर हिन्दीके वृद्ध पंडित झुँझलाकर कह सकते है, 'इस तरह एक रूपकके ऊपर दूसरा रूपक भिड़ा देनेसे (समीक्षाका) काम नहीं चल सकता।' उसकी कल्पनामें 'कसकती वेदना' नहीं है, जवानीका गुण-दोषमय जोश है। और अगर सच पूछा जाय तो, एक ही बात ऐसी है जिसे वह अपनी किसी रचनामें नहीं भूल सका : जीवन और यौवन।

पौराणिक युगकी कल्पना विश्वासपर अवलम्बित होती थी; किन्तु, इस युगकी कल्पना जान-बूझकर किया हुआ प्रयत्न है जिसमें धार्मिक विश्वासका लेश भी नहीं है। अँगरेजी साहित्यके रोमाण्टिक युगके विशेषज्ञोंसे सुना है कि उस युगकी कल्पनाको पंडित लोग प्रयत्न-सिद्ध या conscious effort मानते हैं, और अनुभूतिको व्यक्तिगत अनुभूतिका स्वतःसमुच्छ्वसित उच्छ्वास या spontaneous outburst of personal feeling कहा करते हैं। वर्तमान हिन्दीकविताके लिए भी शायद यही बातें कही जा सकती हैं। एक बातमें कमसे कम प्राचीन और नवीन कवियोमें स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता है। प्राचीन

कवि, अगर वह कविता करने जा रहा हो तो, कभी अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख या अनुभूतिको प्रकट नहीं करता,—वह सदा ऐतिहासिक या पौराणिक व्यक्तियोंके मुँहसे अपनी बात कहलाता है, कल्पित-प्रेमी और प्रेमिकाओंसे प्रेम या विरहकी अनुभूतिका वर्णन कराता है। यह कह सकना बड़ा कठिन है कि वह कहाँ अपने आपको प्रकाशित कर रहा है,—वह सदा प्रतिनिधिके रूपमें कहता है। किन्तु, वर्तमान युगका कवि अपनी अनुभूतियो, अपने व्यक्तिगत सुख-दु:खों, हर्ष-विषादो, लज्जा-असूयाओका गान करना अत्यन्त आवश्यक समझता है। ऐसी अवस्थाओंमें वह 'रस'के परिपाककी ओर उतना ध्यान नहीं देता जितना स्थायी या संचारी भावोंको खोल-खोलकर निरतिशय वाच्य रूपमें प्रकट करनेकी ओर।

प्राचीन आचार्य प्रेमके आदर्शका चित्रण करना उतना ज़रूरी नहीं समझते जितना रसके व्यंग करनेको। आजका कवि अपने प्रेम-पात्रके अनजानमें भी, उसका प्रेम अपने प्रति न होते हुए भी, घुल-घुलकर मरता है, निराश और क्लान्त स्वरमे गान करके आकाश-पाताल एक कर देता है। कहते हैं, फारसी साहित्यमें इस प्रकारके आदर्श प्रेमके गान भरे पडे हैं, अँगरेज़ीमें तो हैं ही। इस समय मुझे याद नहीं आता कि संस्कृत साहित्यमे ऐसा एकतर्फ़ा प्रेमका चित्रण कही पढ़ा है या नहीं। शायद नहीं पढ़ा। इतना ज़रूर याद आ रहा है कि प्राचीनोंमें एकतर्फ़ा प्रेमको,—अनुभयनिष्ठा रतिको 'रस' नहीं, 'रसाभास' कहा है—

'उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥'

मेरा जो कुछ थोड़ा पढ़ा हुआ है, उसमें हिन्दीके वर्तमान कवियोंमें एक श्रीसुमित्रानन्दन पन्त ही ऐसे मिले हैं जिन्होंने आत्मानुभूतिके भावावेशमे भी अनुभयनिष्ठा रतिसे यथासाध्य बचनेकी कोशिश की है। उनके बाद ही शायद श्रीमहादेवी वर्माका स्थान है। मै ठीक नहीं कह सकता कि ये लोग जान-बूझकर इससे बचते हैं, या स्वभावतः कलाकार होनेके कारण ऐसी चीज़ोको बर्दाश्त ही नही कर पाते। शायद दूसरी बात सच है। सचाईके नाम पर इतना कह देना और उचित है कि जहाँ तक इस बातका सम्बन्ध है,

महादेवीजी 'नीहार'में 'नीरजा'से अधिक कलाकार प्रतीत होती हैं। 'नीहार' की एक कविता मेरा वक्तव्य अधिक स्पष्ट कर सकती है—

'बिछाती थी सपनोंके जाल, तुम्हारी वह करुणाकी कोर
गई वह अधरोंकी मुसकान मुझे मधुमय पीड़ामें बोर;
भूलती थी मैं सीखे राग, बिछलते थे कर बारंबार
तुम्हें तब आता था करुणेश, उन्हीं मेरी भूलोंपर प्यार!
गये तबसे कितने युग बीत, हुए कितने दीपक निर्वाण
नहीं, पर, मैंने पाया सीख, तुम्हारा-सा मनमोहन गान।'

भूलोंपर प्यार आनेसे व्यंग होता है कि प्रेम-पात्रने अपने प्रति किये गये प्रेम-निवेदनको स्वीकार किया। प्रेम-निवेदन भी भूलोंसे ही ध्वनित हुआ है और अन्त तक भूलते रहना,—यह व्यंग्य कहता है कि निवेदयिताका मन कभी अपनी गान-शिक्षापर जमा ही नहीं। वह सदा उन्हीं भूलोंको दुहराता रहा जिन पर कोई न भूल सकनेवाला एक बार भूल चुका था। प्राचीन पंडित इसे और भी अच्छा समझते यदि कविने 'प्यार' आदि शब्दोंका प्रयोग न किया होता।

यह सर्ववादिसम्मत मत है कि कवितामें अलंकारोंका स्थान सबसे नीचे है, यद्यपि वे बड़े सहायक हैं। जब कवि सहज ही कोई बात नहीं कह सकता,— उसकी भाषा फेल हो जाती है, तब वह रूपको और उपमाओंकी सहायता लेता है। वर्तमान हिन्दी कवितामें रूपकोंकी जटिलता बढ़ती जा रही है। कवि जिसे सहज ही कह सकता था, उसके लिए भी रूपकोंकी पल्टन खड़ी कर देता है। लाक्षणिक शब्दोंका प्रयोग तो कभी कभी बड़ा अप्रिय मालूम पड़ता है। कई जगह कठिन कष्ट-कल्पना किये बिना काम ही नहीं चलता।

मगर, कविताकी आज ज़रूरत क्या है? सदा कविताका लक्ष्य एक विवादास्पद विषय रहा है, आज भी है। इतना तब तक मान लिया जा सकता है कि कविता हमारे मनको अनेक दुःखोंके भारसे बचा लेती है। प्राचीन युगके मनुष्यके मनकी अपेक्षा आधुनिक मनुष्यके मनपर अधिक बोझ है। आज मनुष्य केवल अपनी, अपने परिवार और अपनी जातिकी चिन्ताओंसे ही कातर नहीं है, उसके सामने सारे संसारकी समस्यायें हैं। कोई भी समस्या आज

एकदेशीय नहीं है। वैज्ञानिक सुविधाओंके कारण जहाँ हमारी शारीर सम्भावनायें बहुत बढ़ गई हैं, वहाँ मानसिक चिन्तायें भी बहुत अधिक हो गई हैं। आजकी कवितामें भी, इसीलिए, नये नये उपादान, नई नई शक्ति आवश्यक है। आज मनुष्य आशा करता है कि कवि उसे कुछ ऐसी बात बतायेगा जिससे संसारकी प्रवृद्ध और प्रवर्धमान समस्याओंकी जटिल गुत्थियोंके सुलझानेमें सहायता मिले। यद्यपि कवि किसी गुत्थीके सुलझानेकी शपथ खाके कविता लिखने नहीं बैठता, पर, चूँकि वह अपने युगके औसत आदमियोंसे अधिक ग्रहणशील होता है, इसलिए, संसारकी प्रत्येक तरंग उसके मनःपटलपर आघात करती है। इस मनकी प्रत्येक कल्पनासे, प्रत्येक चिन्तनसे और प्रत्येक अनुभूतिसे औसत आदमी अपने आप सन्देश पाया करते हैं,—उन्हें आत्म-ज्ञान होता है। वर्तमान हिन्दी-कविता क्या इस कसौटीपर कसके देखी जा सकती है? देखा जाय :

आज हमारे समाजमें नये उपादान और नये अभाव पैदा हो गये हैं। वैज्ञानिक उन्नतिके साथ साथ हमारी शरीर-सम्भावनाओंमें बहुत परिमाणमें वृद्धि हुई है। हम मानें या नहीं, संसारकी भौगोलिक सीमायें टूट चुकी हैं। आज हॉलीवुड जो सोचता है, सारी दुनिया कल उसे देखनेको तैयार है। लेनिन और सनयतसेन, क्रोपाटकिन और गाँधी, आइन्स्टाइन और रवीन्द्रनाथ अपने अपने देशकी क्षुद्र सीमाओंको पार कर चुके हैं। आज रूसके सिंहासनके टूटनेसे स्पेन थर्रा उठता है, मिस्रमें गोली चलनेसे हिन्दुस्तानका वायुमण्डल सनसना उठता है, चीनपर चढ़ाई होनेसे अमेरिका बौखला उठता है, अबीसीनियापर आक्रमण होनेसे ब्रिटेनका हाथ तलवारकी मूठपर जम जाता है। संसारकी छोटी छोटी घटनायें शीघ्र ही होनेवाले राजनीतिक और सांस्कृतिक उलट-फेरको कुछ न कुछ आगे ढकेल देती हैं।

सहज-बुद्धिने आज विश्वासपर विजय पाई है,—वैज्ञानिक प्रयोगशालायें सहज बुद्धिको मार्ग दिखाया करती हैं। ईश्वर आज प्राचीनपन्थी पंडितोंके बहसकी चीज़ रह गया है, नृतत्त्व और समाजशास्त्रके पंडित ईश्वर-सम्बन्धी विश्वासके क्रम-विकासको एक अनुसन्धानका मनोरंजक विषय समझने लगे हैं। ज्यों ज्यों नृतत्त्व, समाजशास्त्र और यौन-विज्ञानके क्षेत्रमें नये नये आविष्कार

होते जा रहे हैं, त्यों त्यों नई पीढ़ी प्राचीनोंकी निर्धारित नैतिकतापर अविश्वास करने लगी है। इस प्रकार, धार्मिकताके मूल,—ईश्वर और नैतिकता आज सबसे कमज़ोर भित्तिपर अवलम्बित हैं। प्रत्येक तर्क, प्रत्येक आविष्कार और प्रत्येक चिन्तन इस भित्तिको और भी कमज़ोर बनाता जा रहा है।

सम्मिलित परिवारकी प्रथा अपने अन्तिम दिन देखनेको है। आर्थिक दबावमें अव्वल तो युवक-युवतियाँ विवाह करना ही पसन्द नहीं करतीं, यदि किया भी, तो पेटकी चिन्तामे एक भाई दूसरेको त्यागनेके लिए बाध्य है। यूरोप और अमेरिकामे होटल परिवारोंका स्थान ले चुके हैं, भारतवर्षके बड़े बड़े शहर भी इसका अनुकरण करने लगे हैं।

राजनीति और अर्थशास्त्र आज संसारकी समस्या हो गये हैं। शान्ति और व्यवस्थाके नामपर अब तक जितने भी विधान बनाये गये हैं वे अन्तमें चलकर मानव-हितके परिपन्थी साबित हुए हैं! नागरिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनोंके विशेषज्ञ ऐसे क़ानूनोंकी दिन-रात उद्भावना करते रहते हैं जिनके बलपर पुराने नियमोंको व्यर्थ सिद्ध किया जा सके। अपवादोंने नियमोंको मात कर दिया है। संसारकी आर्थिक स्थिति बड़ी ही भयंकर है। एक तरफ जब करोड़ों आदमी भूखकी भीषण ज्वालाके शिकार बन रहे हैं, तब दूसरी तरफ लाखों मन गल्ला इसलिए जला दिया जाता है कि वह सस्ता न होने पावे! शिकागोमें एक ही साल दो शास्त्रोंके विशेषज्ञोंने दो फ़तवे दिये। शरीर-शास्त्रियोंने बताया कि पाँच वर्षसे कम उम्रके बीस हज़ार बच्चे दूधके अभावमें मर गये, और दूधके व्यवसायके विशेषज्ञोंने व्यवस्था दी कि कई हज़ार गैलन दूध अगर रोज़ नदीमें न फेंक दिया जायगा तो दूधका बाज़ार ही नष्ट हो जायगा! जिस साल महात्मा गाँधीने भारतीय ग़रीबोंकी वस्त्र-समस्या हल करनेके लिए चरखेका प्रचार आरम्भ किया, उसी साल अमेरिकाके व्यवसायियोंका 'अर्थ-संकट' दूर करनेके लिए हजारों एकड़का कपास कीड़ोंको खिला दिया गया!

प्रजातन्त्रकी नैया आज मॅझधार मे डूबने जा रही है। संसारने राजाका आदर्श छोड़ दिया, प्रजाके शासनमें उससे न रहा जा सका। संसारके अधिकाश सभ्य देश आज न तो राजाके हैं और न प्रजाके! सारी सत्ता दो-एक स्वेच्छाचारी व्यक्तियोंके हाथमें है।

संसारकी जन-संख्या भी एक भयंकर समस्याका रूप धारण करती जा रही है। विशेषज्ञ कभी सन्तति-निरोधकी ओर झुकते हैं, कभी ब्रह्मचर्यकी ओर। यूरोपमें पहली प्रथाने समाजमें उच्छृंखलता फैला दी है, भारतवर्षमें दूसरी प्रथाने समाजमे रोगका स्थान ग्रहण कर लिया है। भारतवर्षकी सामाजिक दुश्चिन्तामें विधवाओ और साधुओंका विशेष स्थान है। रुद्र देवताके सभी अस्त्र,—युद्ध, प्लेग, हैज़ा इत्यादि इस प्रवर्धमान जन-संख्याकी समस्याको हल करनेमें असमर्थ हुए हैं। आज सहृदय बुद्धिमान् संसारमें आये हुए प्रत्येक नये प्राणको देखकर दीर्घ निःश्वासके साथ सोचता है : क्या करेंगे ये भावी मनुष्य !

धर्ममे हम ईश्वर, कर्म और नैतिकताको त्याग चुके हैं, पर हमें उसके बदले कोई मजबूत आधार अब भी नहीं मिला है। राजनीतिमें राजाको छोड़ चुके हैं, लेकिन, प्रजाका राज्य अब भी आसमानका फूल है। समाजमें हम परिवारका आदर्श छोड़ चुके हैं, पर अब भी हमारा नया आदर्श अप्रतिष्ठ है। शिक्षामें हम गुरुका आदर्श त्याग चुके हैं, पर, शिक्षकका आदर्श अब भी हवामें ही उड़ रहा है। ब्रह्मचर्यका आदर्श छोड़ा जा चुका है, पर समाजकी उच्छृंखलताको दबानेके लिए अभी कोई नया आदर्श उद्भावित नहीं हुआ।

विज्ञानने हमारी शरीर-सम्भावनाओंको बहुत चढ़ा दिया है, पर, हमारा मानसिक भूत अब भी ज्योका त्यो है। अर्थशास्त्रने अर्थ एकत्र करनेके विविध साधन तैयार कर दिये हैं, पर, सर्वसाधारणमें वितरित कर सकनेकी प्रणाली अब भी आविष्कृत नहीं हुई। संसार युद्धसे ऊब चुका है, लेकिन, पारस्परिक घृणा और वैमनस्यसे मुक्ति नहीं मिली। राष्ट्रीयताका ज़हरीला फल चखा जा चुका है, पर अन्तर्राष्ट्रीयता अब भी बहके हुए मस्तिष्कका स्वप्न समझी जाती है। औसत दर्जेका आधुनिक मस्तिष्क इन तथा इन्हीं जैसी अन्यान्य जटिल समस्याओको देखकर क्लान्त, निराश और निश्चेष्ट हो उठता है। वह व्याकुल भावसे सोचता है : क्या मनुष्यता उभय-विभ्रष्ट होकर छिन्न मेघ-खण्डकी तरह नष्ट होने जा रही है ?

'कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति !'

प्राचीन युगके मनुष्यके सामने ऐसी बातें नही थीं। उस युगके कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री,—सभी अपनी नई कल्पना, नई चिन्ता और

नई व्यवस्थाके लिए एक बार पीछे मुड़कर देख लिया करते थे। उनका विश्वास था कि जो श्रेष्ठ है, जो कुछ चरम है, वह पहले ही कहा जा चुका है; वे जो कुछ कहते हैं, उसका समर्थन उस अनादि शास्त्रके द्वारा हो जाना चाहिए। वे नया कुछ नहीं कहते थे,—प्राचीन ज्ञानको अपनी व्यक्तिगत साधनामें प्रत्यक्ष किया करते थे। आजका कवि या मनीषी नित्य ही नूतनताकी तलाशमें चक्कर मारा करता है, कभी कभी वह अपनी एक छोटी-सी सीमा रचा करता है, और फिर उसे तोड़कर दूसरी सीमा रचा करता है। अपने इस अनवरत भंजन-सृजनको ही वह नवीनता मान लिया करता है। प्राचीन मनुष्य साधना किया करते थे, आधुनिक मनुष्य नूतनता लाना चाहते हैं। प्राचीनोका ज्ञान भी एक साधना थी, अर्वाचीनोंकी साधना भी एक जानकारी है। वह साधना करनेका युग था, यह नव-निर्माणका युग है। उस युगमे नई जानकारीको कोई नया नहीं कहना चाहता था, इस युगमे पुरानी जानकारीको भी लोग 'नया अनुसन्धान' कहते हैं। उन दिनों प्राचीन जानकारी श्रद्धाका विषय थी, इन दिनों वह कुतूहलका विषय हो गई है।

प्राचीनोको समयकी कमी नहीं थी। आधुनिक कालमें सब सुलभ मान लिया गया है, दुर्लभ है केवल समय। पृथिवीकी जानकारीके लिए हम कमसे कम समयमें संसारकी प्रदक्षिणा कर लेना चाहते हैं, प्राचीन ज्ञान-विज्ञानको जाननेके लिए विशेषज्ञोंके विहंगमदृष्टि (bird's eye-view) वाले पिरियाडिकलोंके पन्ने उलटा करते है, संसारकी समस्याओंके सुधारनेकी इच्छा रखनेवाले मनीषियोंकी बात सुननेके लिए रेडियोकी सहायताको पर्याप्त समझते हैं,—समयको बचा सकना हमारे लिए सबसे बड़ा कार्य है। प्राचीन कवि और सहृदय यह मान लेते थे कि धर्म-बुद्धिके लिए धर्मशास्त्र एकमात्र प्रामाण्य है, ज्ञान-चर्चाके लिए दर्शनशास्त्र सदा तैयार है, भक्ति और पूजाके क्षेत्र अलग अलग हैं। कवित्वसे इनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार वे निश्चिन्त भावसे बिन्दुमती, अक्षरच्युतिका, प्रहेलिका, समस्यापूर्ति और अन्त्याक्षरीसे अपना मनोविनोद किया करते थे। एक एक श्लोककी सौ सौ व्याख्यायें वे कर सकते थे, एक एक वाक्यसे वे दर्जनों व्यंग्यार्थ निकाल लेते थे, एक एक फक्किकापर वे महीनों बहस कर सकते थे,—क्योंकि, संसारका कार्य उनका ईश्वर

सम्हाला करता था, उन्हे उसके बनने-बिगड़नेमें कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं लेना था। उन्हे समयकी कमी नहीं थी। आजके मनुष्यने जान-बूझकर हो या अनजानमे, संसारकी कार्य-परम्पराके लिए अपनेको उत्तरदायी समझ लिया है,—उसने ईश्वरके हाथसे चार्ज ले लिया है। वह जनाकीर्ण परिवारके मुखियाकी तरह सदा चिन्तित रहता है।

प्राचीन मनुष्यकी सारी साधना एकान्त और निर्जन स्थानोमें होती थी; परन्तु, आधुनिक युगके मनुष्यके लिए एकान्त ही सबसे बड़ा बोझ है। हम हर्ष मनाते हैं सभा करके, शोक मनाते हैं सभा करके, धर्मकी रक्षा करते हैं सभा करके, पूजा भी करते हैं सभा करके! हमें ज्ञान मिलता है पब्लिक अखबारोसे, शिक्षा मिलती है पब्लिक स्कूलोसे, अध्ययन मिलता है पब्लिक लाइब्रेरियोसे, उत्तेजन मिलता है पब्लिक मीटिंगोंसे, सम्मान मिलता है पब्लिक सम्मेलनोंसे, दवा मिलती है पब्लिक अस्पतालोसे,—आधुनिक काल शुरूसे अखीर तक भीड़-भब्भड़का युग है। और अपनी इस एकान्त-निष्ठाकी कमीको हम गर्व और अभिमानकी वस्तु समझते है। आये दिन जब हम कहा करते हैं कि 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह अकेला नही रह सकता,' तो मानो अकेले रहनेवालोंको हम दयाके पात्र समझते हैं!

प्राचीन कविका सबसे बड़ा सम्बल विश्वास था। उदाहरण देकर कहना हो, तो हम दो-एक प्रसिद्ध घटनाओंको इस प्रकार कह सकते हैं। रावणने सीताको चुराया, रामने उससे युद्ध किया, सीता घर लौटीं। प्राचीन कविका विश्वास था कि पर-स्त्रीपर कुदृष्टि रखनेवाला लम्पट निन्दार्ह है। उसने रावणको राक्षस कहा, पतित कहा, नीच कहा, जो कुछ कह सका कहा; क्योंकि, उसे अपने काव्यमें यह व्यंग्य करना था कि 'रामादिवदाचारितव्यं, न तु रावणा-दिवत्।' उसने एक बार सोचा भी नहीं कि वह उद्दाम प्रेम आदर्श से भ्रष्ट होकर भी काव्यका स्तुति-योग्य विषय हो सकता है जिसने त्रिलोक-विजयी रावणको भिक्षुक बनाया, चोर बनाया, पतित कहलवाया। उसने कभी यह सोचा भी नहीं कि स्वयंवर-सभाका वह प्रथम दर्शन रावणके लिएं जिस उत्कट लालसा-का विष-बीज बो चुका था वह प्रलयंकर दर्शन काव्यका एक उत्कृष्ट विषय हो सकता है। उसने कभी सोचा नहीं कि दुर्योधनने भरी सभामे पांडवोके सामने

द्रौपदीका जो अपमान किया, वह उसके स्वयंवर-दर्शन-सम्बन्धी उत्कट प्रेमकी ही मानसिक प्रतिक्रिया थी,—अपने निर्दलित प्रेमका भीषण प्रतिशोध था! प्राचीन कविने मनोवैज्ञानिक सत्यके नामपर परम्परा-समर्पित मर्यादापर कभी अविश्वास नही किया, इसीलिए, उसमे असन्तोषका उद्भव कभी हुआ ही नहीं।

प्राचीन कवि सृष्टि-व्यवस्थासे असन्तुष्ट नहीं था और उसका पाठक भी उससे असन्तुष्ट नही था। उस युगके कवि और सहृदय प्राक्तन कर्मको, या भावी न्याय-व्यवस्थाको, विश्वासकी दृष्टिसे देखते थे। आजका कवि और सहृदय सृष्टि-व्यवस्थासे उस प्रकार सन्तुष्ट नही है। आज स्त्री-पुरुषमे अधि-कारका झगड़ा है, स्वामी-सेवकमें कर्तव्यका द्वन्द्व है, राजा-प्रजामे अधिकारकी लड़ाई है,—सर्वत्र समाजकी रचना और मर्यादा सन्देहकी दृष्टिसे देखी जाती है। इन सभी बातोंको देखते हुए यह समझ सकना आसान है कि सब समय प्राचीन मान-दण्डसे आधुनिक काव्यकी समीक्षा नही हो सकती।

और, उन्नीसवीं शताब्दीके अँगरेजी समालोचकोंकी बँधी-सधी बोलियाँ हमारी साहित्यिक सहृदयतामें कुछ विशेष सहायता नही कर सकती हैं। बीसवीं शताब्दीके उत्तर-पूर्वार्धमें शिक्षित सुसंस्कृत सहृदयसे यह आशा करना बिलकुल अन्याय है कि वह अठारहवीं और उन्नीसवी शताब्दीके समालोचकोंकी उड़ती हुई बातोंपर न जाय। जिन दिनों कहा जाता था कि 'कवि अपनी व्यक्ति-सत्ता (=personality) विश्व-ब्रह्माण्डमें प्रसारित कर अनुभव करता है', उन दिनो नृ-तत्त्व-शास्त्र (=anthropology) का जन्म भी नहीं हुआ था, मनोविज्ञानमें मेस्मरकी बात ही चरम समझी जाती थी, जीव-शास्त्रकी आलोचनाके प्रसंगमें डार्विनका नाम भी सन्देहके साथ लिया जाता था और यौनविज्ञान (=sexuology) तो एक भद्दा-सा शास्त्र माना जाता था। आज समय बहुत आगे बढ़ गया है। आजका कवि,—अगर सचमुच वह आजका कवि है, इन सभी जटिलताओंमेंसे होकर सृष्टिके उस सामंजस्यको पा सका है, जिसे पुराकालका कवि अपनी सहज एकान्त साधनामें पाता था। आजका कवि या सहृदय पुराकालके कवि या सहृदयसे कुछ श्रेष्ठ नहीं हो गया है; पर इतना ज़रूर है कि पुराकालमें जो सत्य सहज ही मिल सकता था, जमानेके गुण-दोषके कारण वह आज हमसे दूर हट गया है। हम जटिलताके दलदलमें फँसनेको

बाध्य हैं। औसत आदमी इस दलदलमें फँसा ही रह जाता है। कवि निकलकर मार्ग दिखाता है। न तो हमें प्राचीनताके प्रति पक्षपात करना चाहिए और न नवीनता के प्रति अन्याय—

'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।'

उदाहरणके लिए समझा जाय—

'माए घरोवअरणं अज्ज हु णत्थि त्ति साहिअं तु मए।
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाई।'
[मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं तु मया।
तद् भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी॥]

—'मा, यह तो तुमने पहले ही बता रक्खा है कि आज घरके काम-धन्धेकी कोई सामग्री नहीं। तो बताओ, मुझे क्या करना है, दिन तो यों ही पड़ा नहीं रहेगा?'

वाग्देवतावतार मम्मटने इस श्लोकको व्यंग्यार्थके प्रसंगमें उद्धृत किया है। इससे आपने यह ध्वनि निकाली है कि लड़की अपने प्रियसे मिलनेके लिए व्याकुल है, अतएव, वह गृह-कार्यका बहाना बनाकर बाहर जाना चाहती है,—'अत्र स्वैर-विहारार्थिनीति व्यज्यते।' श्लोकसे यह बात साफ मालूम होती है कि घरके उपकरण नहीं हैं और यह बात बाहर जानेके लिए ज़रूरतसे ज़्यादा कारण हो सकती है। पर, आजतक किसी सहृदयने मम्मटकी बातपर सन्देह नहीं किया, क्योंकि, कविने जिस स्पिरिटमें कविता लिखी थी, मम्मटने उस स्पिरिटको ठीक ही पकड़ा है। उस युगमे कोई समालोचक इस गाथामें आत्मा-परमात्माकी मिलन-विरह-वेदनाका आभास पाकर उपहासास्पद न बनता। क्योंकि, उस युगमें आत्मा-परमात्मा सर्वत्र मिल सकते थे,—इस श्लोकमें न भी मिलते, कवि या सहृदयको कुछ चिन्ता न थी!

एक नई कविता देखी जाय जिसमें विहारार्थिनीकी व्यंजना अधिक साफ़ हो सकती थी, पर, कोई सहृदय ऐसा व्यंगार्थ निकालकर इस युगमें उपहासास्पद हुए बिना न रह सकेगा—

आमि कोन् छले जाब घाटे?
शाखा थर थर पाता मर मर

शाखा सुशीतल बाटे ।
बेला बेशि नाइ दिन हल शोध
छाया बेड़े जाय पड़े आसे रोद
ए बेला केमन काटे ?
आमि कोन् छले जाब घाटे ?

(रवीन्द्रनाथ,—'खेया')

—'मैं किस बहाने घाटपर जाऊँ ? किस छलसे उस रास्तेपर जाऊँ जहाँ शाखायें थर थर काँप रही हैं, पत्ते मर्म्मर ध्वनि कर रहे हैं ! अब अधिक समय नहीं है, दिन समाप्त हो चला है, छाया बढ़ती जा रही है, धूप धीमी पड़ती जा रही है। हाय ! यह समय कैसे कटेगा ?—मै किस बहाने घाटपर जाऊँ ?'

मध्य-युगमें कवि यदि अपनी वासनाओंको उच्चतर भूमिकापर प्रतिष्ठित करना चाहता था तो राधा और कृष्णके नामोका सहारा लिया करता था। इन नामोके देनेसे कवित्वमे भक्ति और धर्मका रस मिल जाया करता था, क्योकि, इन नामोके पीछे एक इतिहास था, एक साधना थी, एक निष्ठा थी। कविके दोनो हाथोमें मोदक हुआ करता था,—सहृदय अगर रीझ गये तो कविता, नहीं तो राधा और कृष्णका सुमिरन !—'आगेके सुकवि रीझिहैं तो कविताई, न तो राधिका-गुविन्द सुमिरनको बहानो है।' आज अवस्था ठीक उलटी है। भगवानके सम्बन्धमे कविता लिखते समय भी कवि ईश्वर-वाचक कोई शब्द रखना पसन्द नहीं करता। महाप्रभु सांसारिक प्रेम-परक श्लोकमे अध्यात्म-रसका अनुभव कर सकते थे, और आजका सहृदय भी संसार-प्रेम-परक सम्बोधनों और विशेषणोसे अध्यात्म-रसका आस्वाद करता है; मगर, दोनोंका आस्वादन दो चीज़े है। गौराङ्ग महाप्रभु संसारमें राधा-कृष्णके अतिरिक्त और कुछ देखते ही न थे, इसलिए, वे सर्वत्र 'उज्ज्वल रस' (=श्रीकृष्ण-प्रेम-विषयक रस) को अनुभव करते थे; और आजका सहृदय संसारमे अध्यात्म-भावको छोड़कर सब पाता है, इसलिए, उसके भीतरकी अतृप्त अध्यात्म-भावना छोटा-सा भी emotional या रसात्मक इंगित पाकर जाग उठती है। आज हम उपयोगिताके सम्बन्धमें ईश्वर-जैसी किसी रहस्यमय वस्तुको पानेमें असफल हो चुके हैं; पर, हमारे हृदयमें जो एक रहस्यमय आध्यात्मिक

पिपासा रह गई है उसे हम रसमय सम्बन्धमें साक्षात् करते हैं। कहा है कि जो चीज़ किसी भी रूपमें थी वह रहेगी ही—

'नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः।'

आदि-मानवके मनोजगत्की जो रहस्यमय भावना मध्य-युगमें भगवानके रूपमें विशाल हो उठी थी, वह हँसकर उडा देनेकी चीज़ नहीं है। वह अभाव नहीं थी, अभाव हो भी नहीं गई है। आज संसारमें जब उस अतृप्त भावनाके लिए अकुण्ठ मार्ग नहीं रह गया है, तो रसमय काव्य-संसारमें वह अवतीर्ण हुई है। आज, इसीलिए, महादेवीजीके इस गानमें सहृदय मनुष्य कविताके ऊपरका एक अनिर्वचनीय रस,—जिसे 'भाव' कहना अधिक ठीक होगा, पाता है :

'पथ देख बिता दी रैन, मैं प्रिय पहचानी नहीं !
तमने धोया नभ-पन्थ सुवासित हिम-जलसे,
सूने आँगनमें दीप जला दिये झिलमिल-से,
आ प्रात बुझा गया कौन अपरिचित जानी नहीं;
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
धर कनक-थालमे मेघ सुवासित पाटल-सा,
कर बालारुणका कलश विहग-रव मंगल-सा,
आया प्रिय पथसे प्रात सुनाई कहानी नहीं !
मै प्रिय पहचानी नहीं !
नव इन्द्रधनुष-सा चीर महावर अंजन ले,
अलि-गुंजित मीलित पंकज,-नूपुर रुनझुन ले;
फिर आई मनाने साँझ, मैं बेसुध मानी नहीं,
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
इन श्वासोंके इतिहास आँकते युग बीते
रोमोंमें भर भर पुलक लौटते पल रीते;
यह ढुलक रही है याद नयनसे पानी नहीं;
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
अलि कुहरा-सा नभ विश्व मिटे बुदबुद जल-सा,
यह दुखका राज्य अनन्त रहेगा निश्चल-सा,

हूँ प्रियकी अमर सुहागिनि पथकी निशानी नहीं,
मै प्रिय पहचानी नही !'

लेकिन, जिस प्रकार, साधारण शब्दोसे आध्यात्मिक रस ले सकनेके कारण, आजका औसत सहृदय और महाप्रभु चैतन्य एक ही श्रेणीके नहीं हैं, उसी प्रकार अपनी अनुभूतियोंसे गुजरती हुई 'उज्ज्वल रस'के आस्वादके कारण महादेवी और मीरा भी एक नहीं हैं। आज जमानेके अनिवार्य तरंगाघातोंसे हम जिस किनारे फेंक दिये गये हैं, वहाँसे चैतन्य और मीराकी ओर लौट सकना असम्भव है। जो लोग मीरामें महादेवीजीकी अध्यात्म-भावनाओंका अस्तित्व पाया करते हैं, वे न जाने क्या कहते हैं। इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि वे मीराको छोटी समझ लेते हैं और महादेवीको पिछड़ी हुई। यह एक निर्विवाद सत्य है कि मीरा मध्य-युगकी भक्त थीं, महादेवी वर्तमान युगकी कवि। इससे न कोई कम है, न अधिक।

आजके कविके सामने दो सत्य हैं। आसमानमे रातको जो ग्रह-नक्षत्र दिखते हैं, वे छोटे छोटे दीपकके समान झिलमिलाते रहते हैं। रातको दिखाई देते हैं, सुबह न जाने कौन बुझा जाता है। यह अत्यन्त सहज सत्य है। लेकिन, विज्ञानके पंडितने अपनी प्रयोगशालामें एक दूसरे सत्यका आविष्कार किया है। ये जो नन्हें नन्हे दीप-शिखाभ ज्योतिष्क पिड दीख रहे हैं, ये करोड़ो योजन-आयतन-वाले प्रकाश-राशि हैं और लाखों योजन प्रति घंटेके हिसाबसे अपरिसीम ब्रह्माण्डकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। इनमेंसे किसी एकका हजारवाँ हिस्सा भी स्खलित होकर यदि हमारी धरतीपर आ गिरे, तो पृथिवी चूर चूर हो जाय। कविकी विशेषता यह है कि वैज्ञानिक पांडित्यकी जटिलतापर गुजरता हुआ भी वह उसपर विजयी होता है। उस समय वह सहज बातको सहज ही कह जाता है, और एक नगण्य 'तो' या 'किन्तु' या 'तो भी' में असीमताको प्रकट कर जाता है। महादेवीजी ऊपरके पद्यमें सारी जटिलताओंपर विजयी होकर बहुत सहज भावसे सहज बात कह गई हैं। हमारी आलोच्य पुस्तकोंमें इतना सहज भाव किसीमें नहीं है, इसीलिए, महादेवीकी कविता ज्यादा पुरअसर हुई है। लेकिन, वे सम्पूर्ण सहज नहीं हो पाई हैं। उनकी कवितामें अगर सदा यह ध्यान न रक्खा जाय कि उनका प्रिय एक असीम और रहस्यमय प्रिय है, तो

रस-बोधमें पद पदपर बाधा पहुँचती रहेगी। उसे सहज प्रेम-व्यापारका सहज चित्र समझना मुश्किल है। होना यह चाहिए कि उसे सहज चित्र समझकर भी उससे अनिर्वचनीय 'उज्ज्वल रस'का आस्वादन सुकर हो जाय। अपने किसी किसी गानमें महादेवीजी भी काफी सहज हो सकी हैं।

एक दूसरे ढंगका सहज-भाव हमें 'पाथेय'में मिलता है। एक उदाहरण लिया जाय—

' किन्तु, बन्धु, कुतूहलावेशमें, पूछते हो जब तुम,
मेरे दूर देशमें कैसे हैं कुसुम
और कैसे लता-गुल्म-द्रुम ?
कैसे पशु-पक्षियोंसे पूर्ण हैं वहाँके वन,
कैसी मृत्तिका है, जल कैसा और कैसे जन ?
—विस्मयमें डूब उठता है तब मेरा मन।
जिन सब क्षुद्र क्षुद्र वस्तुओंकी नूतनता
मेरी दृष्टियोंसे घिस घिसके सहस्र बार
मेरे लिए हो चुकी थी दूरगता;
वे सब तुम्हारे लिए कैसी ज्ञेय, कैसी प्रेय,
कितनी रहस्यागार !
धन्य यह मेरा हुआ आना यहाँ !
पहली ही बार यह जाना यहाँ—
भिक्षुक बनकर, तुच्छताके पंकमें ही सनकर
व्यर्थ नहीं आया हूँ दुर्लभता मैं भी कुछ साथ लाया हूँ।'

'पाथेय'का कवि जिस अज्ञात लोकसे अनादिकालसे चलता आ रहा है, उस लोककी चीज़ें भी कैसी होंगी,—वहाँके लता-गुल्म, वहाँके पशु-पक्षी, वहाँका जन-समुदाय सब एक रहस्यमय सौन्दर्यके आवरणमें ढके होंगे! इस बातका ज्ञान कविको स्वयं नहीं हुआ है। अगर वह इस मायाके मोहक नगरमें न आता, तो होता भी नहीं। 'पाथेय'का कवि सदा चिन्ता करता है। वह जहाँ अत्यन्त सहज-भावमें कोई बात कह जाता है, वहाँ भी वह कुछ न कुछ सोचनेकी-सी हाल में रहता है। वह भी एक रहस्यमय सत्यकी ओर इशारा करता है,

और महादेवीजी भी करती हैं। लेकिन 'पाथेय' और नीरजा'के कवियोंमें एक अन्तर सर्वदा बना रहता है। 'पाथेय'में कवि इशारा 'करता' रहता है, 'नीरजा'मे इशारा 'होता' रहता है।

* * *

संसार आज दिन भयंकर द्वन्द्वोसे कातर है, उससे बच सकनेके लिए 'नीरजा'में एक सन्देश है, 'पाथेय'मे भी है; पर वह बहुत सीमित है। संसारके सामने केवल आध्यात्मिक समस्या ही नही है, प्रेम और अधिकारकी ही मुठभेड़ नहीं है, और भी बहुत-सी बातें हैं। वर्तमान हिन्दी-कविता अपनी संकीर्ण सीमाका अतिक्रम कर चुकी है। वह संसारकी वस्तु होने चली है। उसके पैरोंमें बल जिस मात्रामें अपेक्षित है, उस मात्रामें नही आ सका है, उसके लिए जितने पाथेयकी जरूरत है, उतना अभी संग्रह नही हो पाया है; पर लक्षण शुभ हैं। कवियोकी कवितायें हमे निश्चिन्त होनेका आश्वासन दे रही हैं। वर्तमान हिन्दी-कवि अपनी संकीर्ण सीमाके पार जाकर भी हमारे लिए नये उल्लास और नई आशाको लेकर लौटेगा, यही आशा करनी चाहिए—

'गृह-कपोत हूँ मै उड़ने दो मुझको पंख पसार ;
नहीं हर सकेगा अनन्त भी मेरे घरका प्यार।
चिन्ताकी क्या बात सखे, यदि हूँ मै पूरा वर्ष,
लौट पड़ूँगा क्षणमे ही मै ले नूतनका हर्ष।'

प्रेमचन्दजीकी कला

श्रीप्रेमचन्दजीका ताज़ा उपन्यास 'ग़बन' हाल ही निकला है। निकला तभी मैंने इसे पढ लिया। लेकिन, जो मुझे वक्तव्य हो सकता है, वह लिखता अब हूँ। चीज़को समझने और पुस्तकके असरको ठंडा होने देनेके लिए मैंने कुछ समय ले लिया है। ठंडा होकर बात कहना ठीक होता है,—जब व्यक्ति पुस्तकसे अपनेको अलहदा खड़ा करके मानो उसपर सर्वभक्षी निगाह डाल सके।

प्रेमचन्दजी हिन्दीके सबसे बड़े लेखक हैं। हम हिन्दीभाषाभाषी उनके मूल्यको ठीक आँक नहीं सकते। हम चित्रके इतने निकट हैं कि उसकी विविधता, उसका रंग-वैषम्य हमें आच्छन्न कर देता है; उसमे निवास करती हुई और उस चित्रको सजीवता प्रदान करती हुई एकता हमारी पकड़में नहीं आती। जो एकाध दशाब्दि अथवा एक-दो भाषाओंका अंतर बीचमें डालकर प्रेमचन्दको देखेंगे, वे, मेरा अनुमान है, प्रेमचन्दको अधिक समझेंगे, अधिक सराहेंगे। वर्तमानकी अपेक्षा भविष्यमें और हिन्दीको छोडकर जहाँ अनुवादोंद्वारा अन्य भाषाओंमें पहुँचेंगे, वहाँ उनको विशेष सराहना प्राप्त होगी।

लेकिन, यत्नद्वारा हम अपनी दृष्टिमें कुछ कुछ वैसी क्षमता ला सकते हैं कि बहुत पासकी चीज़को मानों इतनी दूरसे देख सकें कि वह हमें अपनी सम्पूर्णतामें,—अपनी एकतामे, दीखे। अगर रचनाओंके भीतर पैठकर, मानों इस सीढ़ीसे, हम रचनाकारके हृदयमें पहुँच जायँ जहाँसे कि उसकी रचनाओंका उद्‌गम है और जहाँसे उसे एकता प्राप्त होती है, तो हम रसमें डूब जायँ।

अपने भीतरके स्नेह, सहानुभूति और कौशलको विविध भाँतिसे कलमकी राह उतार कर कलाकारने तुम्हारे सामने ला रक्खा है। तुम उन शब्दों, भाषा, प्लाट, और प्लाटके पात्रोंका मानों सहारा भर लेकर यदि हृदयमेंसे

फूटते हुए झरनों तक पहुँच जा सकते हो, तो वहाँ स्नान करके आनंदित और धन्य हो जाओगे। नहीं तो कालिजीय · विद्वानकी तरह उसकी भाषाकी खूबी और त्रुटि और उसके व्याकरणकी निर्दोषता-सदोषतामे फँसे रहकर उसकी छान-बीनका मज़ा ले सकते हो।

मुझे व्याकरणकी चिन्ता पढ़ते समय बहुत नहीं रहती। भाषाकी चुस्तीका या शिथिलताका ध्यान उसीके ध्यानकी ग़रज़से मै नहीं रख पाता। भाषाकी खूबी या कमीको, सम्पूर्ण वस्तुके मर्मके साथ उसका किसी न किसी प्रकार सामंजस्य बैठाकर, मैं देख लेना चाहता हूँ। अतः, यह नहीं कि मैं उस ओरसे नितांत उदासीन या क्षमाशील हो रहता हूँ, किन्तु वहाँ समाप्त करके नहीं बैठ रहता।

प्रेमचंदजीकी कलमकी धूम है। बेशक, वह धूमके लायक है। उनकी चुस्त-दुरुस्त भाषापर, उनके सुजड़ित वाक्योंपर मैं किसीसे कम मुग्ध नहीं हूँ। बातको ऐसा सुलझाकर कहनेकी आदत, मैं नहीं जानता, मैंने और कहीं देखी है। बड़ीसे बड़ी बातको बहुत उलझनके अवसरपर ऐसे सुलझा कर, थोड़ेसे शब्दोमे भरकर कुछ इस तरहसे कह जाते हैं जैसे यह गूढ़, गहरी, अप्रत्यक्ष बात उनके लिए नित्यप्रति घरेलू व्यवहारकी जानी-पहचानी चीज़ हो। इस तरह, जगह जगह उनकी रचनाओंमें ऐसे वाक्यांश बिखरे भरे पड़े हैं, जिन्हें जी चाहता है कि आदमी कंठस्थ कर ले। उनमें ऐसा कुछ अनुभवका मर्म भरा रहता है।

प्रेमचन्दजी तत्त्वकी उलझन खोलनेका काम भी करते हैं, और वह भी सफाई और सहजपनके साथ। उनकी भाषाका क्षेत्र व्यापक है, उनकी कलम सब जगह पहुँचती है। लेकिन, अँधेरेसे अंधेरेमें भी वह धोखा नही देती। वह वहाँ भी सरलतासे अपना मार्ग बनाती चली जाती है। सुदर्शनजी और कौशिकजीकी भी कलम बड़े मजे-मजेमे चलती है, लेकिन, जैसे वह सड़कोंपर चलती है, उलझनोंसे भरे विश्लेषणके जङ्गलमें भी उसी तरह सफ़ाईसे अपना रास्ता काटती हुई चली चलेगी, इसका मुझे परिचय नही है।

स्पष्टताके मैदानमे प्रेमचन्द सहज अविजेय हैं। उनकी बात निर्णीत, खुली, निश्चित होती है। अपने पात्रोंको भी सुस्पष्ट, चारों ओरसे सम्पूर्ण

बना कर वह सामने लाते हैं। उनकी पूरी मूर्ति सामने आ जाती है। अपने पात्रोंकी भावनाओंके उत्थान-पतन, घात-प्रतिघातका पूरा पूरा नकशा वह पाठकके सामने रख देते हैं। तद्गत कारण, परिणाम, उसका औचित्य, उसकी अनिवार्यता आदिके सम्बन्धमें पाठकके हृदयमें संशयकी गुंजायश नहीं रह जाती। इसलिए, कोई वस्तु उनकी रचनामे ऐसी नहीं आती जिसे अस्वाभाविक कहनेको जी चाहे, जिसपर विस्मय हो, प्रीति हो, बलात् श्रद्धा हो। सबका परिपाक इस तरह क्रमिक होता है, ऐसा लगता है, कि मानो बिल्कुल अवश्यम्भावी है। अपने पाठकके साथ मानो वे अपने भेदको बाँटते चलते हैं। अँग्रेजीमे यों कहेंगे कि वह पाठकको confidence में,—विश्वासमें, ले लेते हैं। अमुक पात्र क्यों अब ऐसी अवस्थामे है,—पाठक इस बारेमें असमंजसमें नहीं रहने दिया जाता। सब कुछ उसे खोलकर बतला दिया जाता है। इस तरह, पाठक सहज रूपमे पुस्तककी कहानीके साथ आगे बढ़ता जाता है, इसमें उसे अपनी ओरसे बुद्धि-प्रयोगकी आवश्यकता नहीं होती,—पात्रोंके साथ मानों उसकी सहज जान-पहचान रहती है। इसलिए, पुस्तकमे ऐसा स्थल नहीं आता जहाँ पाठक अनुभव करे कि वह पात्रके साथ नहीं चल रहा है,—ज़रा रुककर उसके साथ हो ले। वह पुस्तक पढ़नेको ज़रा थामकर अपनेको सँभालनेकी जरूरतमें नहीं पड़ता। ऐसा स्थल नहीं आता जहाँ आह खींचकर वह पुस्तकको बन्द करके पटक दे और कुछ देर आँसू ढालने और पोछनेमें उसे लगानी पड़े; और फिर, तुरत ही फिर पढ़ना शुरू कर दे। पाठक बड़ी दिलचस्पीके साथ पुस्तक पढ़ता है, और उसके इतने साथ साथ होकर चलता है कि कभी उसके जीको ज़ोरका आघात नहीं लगता जो बरबस उसे रुला दे।

'ग़बन'में मार्मिक स्थल कम नहीं हैं, पर, प्रेमचन्दजी ऐसे विश्वास, ऐसी मैत्री और परिचयके साथ सब-कुछ बतलाते हुए पाठकको वहाँ तक ले जाते हैं कि उसे धक्का-सा कुछ भी नहीं लगता। वह सारे रास्ते-भर प्रसन्न होता हुआ चलता है, और अपने साथी ग्रंथकारकी जानकारीपर, कुशलतापर, और उसके अपने प्रति विश्वासपर, जगह जगह मुग्ध हो जाता है। पग-पगपर उसे पता चलता रहता है कि इस कहानीके स्वर्गमेंसे उसका हाथ पकड़कर ले जाता हुआ उसका पथ-दर्शक बड़ा सहृदय और विलक्षण पुरुष है। पाठक बिलकुल उसका

होकर रहनेको तैयार होता है। वह बहुत सतर्क और उद्बुद्ध होकर नहीं चलता, क्योंकि, उसे भरोसा रहता है कि ग्रंथकार उसे छोड़कर इधर-उधर भाग नहीं जायगा, उसको साथ लिये चलेगा। इसलिए, ग्रंथकारको भागकर छूनेका अभ्यास करके साथ रहने और, इस प्रकार, अपरिचित रास्तेपर झटकों-धक्कोंको खाते कभी उनपर हँसते और कभी रोते हुए चलनेका मज़ा पाठकको नहीं मिलता, पर पाठक इस स्वादको भी चाहता है।

मै 'ग़बन' पढ़ते हुए कही भी रो नही पडा। रवीन्द्रकी एकाध किताब पढ़नेमें, बंकिम पढ़नेमें, शरत् पढ़नेमे, कई बार बरबस आँखोमे आँसू फूट आये है। फिर भी, प्रेमचन्द्रकी कृतियोसे जान पड़ता है कि मै उनके निकट आ जाता हूँ, उनपर विश्वास करने लगता हूँ। शरत् पढ़ते हुए कई बार गुस्सेमें मैंने उसकी कृतियोंको पटक दिया है, और रोते रोते उसे कोसनेको जी किया है। 'कम्बख़्त न जाने हमें कितना और तंग करेगा!', इस भावसे फिर उसकी पुस्तक उठा कर पढ़ना शुरू कर दी है। ऐसा मेरे साथ हुआ है। इसके प्रतिकूल प्रेमचन्दकी कृतियोसे उनके प्रति अनजाने सम्मान और परिचयका भाव उत्पन्न होता है।

शरत् और कई अन्यकी रचनायें पढ़ते वक्त जान पडता है जैसे इनके लेखक हमसे परिचय बनाना नही चाहते; हमारी,—अर्थात् पाठककी, इन्हें बिलकुल पर्वाह नहीं है; हमारे भावोंकी रक्षा करनेकी इन्हे बिल्कुल चिन्ता नहीं है; जैसे हमारा जी दुखता है या नही दुखता, हम नाराज़ होते हैं या ख़ुश, हमें अच्छा लगता है या बुरा,—इसके ख़्याल करनेका जरा भी दायित्व उनपर नहीं है, हमारे लिए उनके पास ज़रा भी दया नहीं है। ये लेखक निरपेक्ष और निश्चिन्त होकर हमें जी चाहे जितना रुला सकते हैं, परन्तु, प्रेमचंद हमारे प्रति निरपेक्ष नही हो सकते।

शायद इसी निरपेक्षताकी आवश्यकताको विचार कर अँग्रेजीकी उक्ति बन गई थी,—art for art's sake (=कला कलाके लिए)। किन्तु, यह वचन मेरी समझमें सत्यको बहुत अधूरे ढंगमे प्रकट करता है। या, कहें, सत्यको खोलकर प्रकट नहीं करता, उसे मानो बाँध कर बन्द करनेकी चेष्टा करता है। मुझे कहना हो तो कहूँ,—art for God's sake (=कला परमात्माके लिए)।

रवीन्द्र आदिकी कृतिमे किसी एक स्थलपर उँगली रखकर कहना कठिन है कि,—'कैसा अच्छा है!' शरत्की खूबी समझमें नही आती कि किस ख़ास जगह है। ऐसे एक वाक्य करके देखो तो कहीं कोई ख़ास बात नहीं दिखाई देती। इधर प्रेमचंदका कहींसे कोई वाक्य उठा लें;—मानो स्वयं संपूर्ण है,—चुस्त, कसा हुआ, अर्थपूर्ण।

पहले ढंगकी किताबको जी अकुलायगा तभी हम उठकर देखने लग जायँगे। चाहे कितनी ही वार पढी हो हमें वह नवीन-सी लगेगी। प्रेमचन्दकी किताबको एक बार पढ़ लेनेपर उसे फिर फिर पढ़नेकी तबीयत कम शेष रहती है।

मैंने कहा है,—art for God's sake अर्थात्, परमात्माके प्रति, सत्यके प्रति कलाकारका दायित्व है। इसको कलाकार जब समझेगा तो पायेगा कि उसका अपने प्रति दायित्व है, इसलिए, वह पाठक-समाजकी धारणाओंकी ओरसे निरपेक्ष और निश्चिन्त होकर अपने प्रति सच्चा रहकर अपनेको प्रकट कर सकता है। एक व्यक्ति, समाज या पुस्तकके पात्रकी भावनाओंकी रक्षाके प्रति अत्यन्त आतुर हो उठनेका कलाकारको अधिकार नहीं है। इस सम्बन्ध में उसे अत्यन्त निरंकुश होकर चलना पड़ता है। जिस प्रकार परमात्मा अपने विश्वका संचालन (हमारी-तुम्हारी परिमित समझके अनुसार) अत्यंत निरंकुश होकर करते हैं; विश्वको जरा-व्याधि, रोग-शोक और जन्म-मृत्युसे भरा बनाये रखते हैं; किसी खास व्यक्ति या समूहकी कोई विशेष चिन्ता करते नहीं मालूम होते;—इतना होनेपर भी वे परम दयालु हैं। उनकी दयालुता किसी विशेष वस्तु या प्राणीके अच्छा लगने न लगनेपर निर्भर होकर नही रहती। वह इतनी मर्मगत, इतनी व्याप्त और इतनी बृहद् है कि उसका कार्य-परिणमन हम छोटी बुद्धिवालोंको निरंकुश जँचता है। सर्जनका अधिकार रखनेवाले कलाकारको उसी सबके पिता सिरजनहारके अनुरूप रहना पड़ता है। वह रचनामें अत्यंत निरकुंश होगा, किसीके प्रति उसमें विशेष ममताभाव है, ऐसा वह नहीं दिखला सकेगा। विद्वानपर मौत आयेगी तो उसे दिखला देगा, शठ समृद्धिवान् बनता होगा तो उसे बनने देगा। फिर भी, सहानुभूति और प्रेमसे उसका हृदय भरा होना ही चाहिए। वह सहानुभूति या स्नेह इतना उथला न हो कि छलकता फिरे।

संसारमें प्रकटमें दीखनेवाली निरंकुशताके मार्गसे एक अद्भुत सत्यकी लीला सम्पन्न हो रही है। हम नहीं जानते,-इसलिए रोते-झींकते हैं। हम जिन छोटी-मोटी बातोंको सिद्धान्त बनाकर काम चलाते हैं, उनकी ज्योंकी त्यों रक्षा जब हमें होती नहीं दीखती तब हम दुखी होते और अधीर होते हैं। इस तरह, अपने अहं ज्ञानको बीचमें डालकर जिस परमात्माका विश्वास हमारे लिए सहज होना चाहिए था, उसीको हम अपने लिए दुष्प्राप्य और दुर्बोध्य बना लेते हैं। सबमें निवास करती हुई उसकी दयालुता हम नहीं देख पाते, इसलिए कहते हैं, 'वह है नहीं; है तो दयालु नहीं है, मनमाना (= capricious) है।' हमारा तर्क यह होता है: हम भलेमानस हैं, फिर भी गरीब हैं; इसलिए, ईश्वर नहीं है; है, तो ठीक नहीं है। इसी तरह, कलाकारकी वृत्तिमें किसी अन्तरतर सत्यको पाने और सम्पन्न करनेकी चेष्टा होती है,—दुनियाकी बनाई धारणाओंकी रक्षा करनेकी चिन्ता उसे नहीं होती। सदाचारके और अन्य भाँति भाँतिके अपने नियम-कानून बनाकर जीती रहनेवाली दुनिया अपनी सब धारणाओंका समर्थन वहाँ पाये ही, ऐसा नहीं होने पाता। ऊपरके तर्कसे चलनेवाली दुनियाकी तुष्टिके लिए और उसके अहं-समर्थनके लिए कलाकार नहीं लिखता। इसीसे कहा गया है कि art for art's sake,—कला कलाके लिए, जिसका कि सम्पूर्ण शुद्ध रूप है art for God's sake, और जिसका कि अर्थ है कि कला अहंवादी, बुद्धिवादी दुनियाको खुश रखनेकी खातिर नहीं होती; वह God अर्थात् सत्यकी प्रतिष्ठाके लिए होती है।

प्रेमचन्दजीमें उक्त प्रकारकी निरपेक्षता पूरे तौरपर नहीं आई है। वे पाठककी बराबर परवाह करते हुए चलते हैं, और अपनी किसी बातसे सहसा दुनियाको धक्का नहीं देना चाहते। उन्होंने कोशिश करके जिसे सुन्दर और शिवरूप समझा है, लोगोंकी वर्त्तमान स्थितिको किसी विशेष गड़बड़में न डालनेकी चिन्ता रखते हुए, वह उसीको लिखते हैं। उनके पात्र अशरीरी नहीं होते, सूक्ष्म-शरीरी भी नहीं होते; वे अतर्क्य नहीं हो पाते। वे जो कुछ भी होते हैं, common sense (= सामान्य साधारण-बुद्धि) के मार्गसे ही होते हैं। असाधारणता उनमें यदि प्रेमचन्द कहीं कुछ रखते भी हैं तो मानो साधारणताके मार्गसे ही उसे प्राप्त और प्राप्य बना लेते हैं। पाठकके दिलमें

प्रेमचन्दजीके [illegible] एक प्रकारका संतोष होता है, कोई गहरी बेचैनी नहीं जाग उठती, कोई गहरा खिचाव, जो मित्रतासे आगे हो,—एक गंभीर तृप्ति, जो संतोषसे गहरी हो, नहीं होती। प्रेमचन्दजी पाठकका मन रख लेते हैं; अपना ही मन पाठकके सामने रख दे यह नहीं करते।

मैं फिर भी प्रेमचन्दजीको, हिन्दीका नहीं, संसारका लेखक मानता हूँ। बहुत जल्दी संसार भी यह मान लेगा।—क्यों?

सामयिकताको लाँघकर,—मानो सामयिकताका आधार पकड़ गहरी उतरकर, जो कृति जितनी ही सत्यके अनुरूप होकर चलती है, वह उतने ही अंशमें सर्वकालीन और सर्वदेशीय होती है;—उतने ही अंशमें वह कालको चुनौती देती हुई चिरजीवी और देश और भाषाकी परिधियोंको फाँदती हुई विश्वव्यापी हो जाती है।

सत् है एक, अर्थात् सत्य है ऐक्य। सम्पूर्ण सत्ताको सचेतन एकमय देखो, वही है परमात्मा। इस सनातन ऐक्यको पानेकी चेष्टाका नाम है, 'प्रेम'। पर वह प्रेम सहज सम्पन्न नहीं होता। यह जो चारों ओर लुभाती हुई, भरमाती हुई भिन्नता फैली है,—उस सब लोभ और भ्रम और मायाके समुद्रमें, आँख-कान मूँदकर गहरी डुबकी लगाकर पैठनेसे वह प्रेम कुछ कुछ दिखाई पड़ सकता है। इसके लिए गहरी साधनाकी आवश्यकता है। तो भी, इस ऐक्यको पानेकी भूख भी प्राणीमें कम गहरी नहीं है। पर बहुत-कुछ उसकी तृप्तिमें आड़े आता है और वह भूख बहुत तरफसे परिमित, संकुचित भूखी रहती है। और तो क्या, यह शरीर ही रुकावट बनकर सामने आता है। यह हमको सबसे एकाकार तो होने दे सकता ही नहीं, फिर भी, इसकी सहायतासे भी हम आगे बढ़ते हैं। स्त्री-माँ-भाई-बहिन-पिता आदि नातोंद्वारा, जो इस शरीरके कारण बन जाते हैं, हम अपने प्रेमका विस्तार फैलाते हैं। वह प्रेम नाना स्थानोंपर नाना रूपमें प्रकट होता है। वह प्रेम तत्कालको पारकर जितना चिर-स्थायी और शरीरके प्रतिबंधको लाँघकर जितना अखिलव्यापी और सूक्ष्मजीवी होता है,—और इस तरह तात्क्षणिक स्थूल तृप्तिमें न जीकर वह जितना उत्सर्गजीवी होता है, उतना ही वह सत्यके अनुरूप, अर्थात् शुद्ध, वास्तविक और

आनंदमय होता है। लेकिन, काल और प्रदेशकी रेखा-असत्यकी टक्करमें जीवकी जीवन-यात्रा चलती है, इसलिए, उसका प्रेमपूर्ण निर्विकार सहज [illegible] नहीं हो पाता। इस तरह, व्यक्तिके जीवनमें सदा ही द्वन्द्व चलता है।

इस दृष्टिसे देखा जाय तो कलुषित कुत्सित प्रेम कुछ नहीं होता। विस्तृत ऐक्यके जिस तल तक मनुष्य उठ आया है उस तलसे नीचेकी चेष्टायें जब वह किसीमें देखता है, तो उसे कुत्सित आदि कहने लगता है।

तो, नानारूपिणी माया जब व्यक्तिको अन्य सबके प्रति एक प्रकारके विरोधसे उकसाकर उसे अहंभावमे दृढ़ रखनेका आयोजन करती है, तब उसके भीतरका गुप्त सच्चिदानंद इस आयोजनको तोड़-फोड़कर स्वयं प्रतिष्ठित रहनेको सतत उत्सुक रहता है। यह द्वन्द्वावस्था ही जीवनकी चेष्टाका और उपन्यासका मूल है। यही साहित्य-क्षेत्र है।

प्रेमचन्दजी इस द्वंद्वावस्थाको अच्छी सूक्ष्म दृष्टि और सहानुभूतिके साथ चित्रित करते हैं और इस द्वन्द्वमें वह जिस निर्मल प्रेमभावकी प्रतिष्ठा करते हैं वह देहातीत होता है,—वह बीतते हुए क्षणके साथ मिटता नहीं। वह सेवामय प्रेम दुनियादारीकी, ग़लतफ़हमियोंकी, अज्ञानताकी, विफलताकी, हीनताकी कितनी कठिनाइयोंके साथ लड़ता-झगड़ता हुआ भी अक्षुण्ण और उत्सर्ग-तत्पर रहता और रह सकता है, इसका चित्र प्रेमचन्दजी सजीव करके उठा देते हैं। वही सजीव प्रेम अर्थात् सत्य, जो स्वयं टिकाऊ है, उनकी कृतिको भी चलते समयके साथ मरने नही देगा। मै कहता हूँ कि प्रेमचन्दजीने अपनी कृतिमें जो चिर-स्थायी और कर्मशील प्रेमका बीज रख दिया है वह सामयिक नहीं है, उसमे स्थायित्व है।

सामयिकतासे प्राण खींचकर कइयोने रचनायें की हैं जो रंगीन होकर सामने आ गई हैं, पर अगर आज वह हाथों-हाथ बिकती हैं तो, हमने देखा है, कल वह मर भी जाती हैं। जो रचना शाश्वत सत्यके श्वाससे जितनी अनुप्राणित होगी, वह उतनी ही शाश्वत और अमर होगी। मायामेंसे रस खींचकर, देश और कालके प्रतिक्षण और प्रति-पग बदलतेजाते हुए आदर्शों और भावोंको आधार बनाकर, सामयिकताकी लहरपर नाचती हुई जो कृति हमें लुभाने आती है, वह

ग्राज हमें [illegible]मा ल[illegible]र कल हमें ही [illegible]सकी याद भूल जायगी, इसका हम विश्वास र[illegible]।

प्रेमच[illegible]जा[illegible]ी कृति सामयिकताकी परिधिको लाँघकर ग्रौर हिन्दी भाषाकी परिधिको लाघ[illegible] किसी न किसी हदतक विश्व ग्रौर भविष्यकी ग्रोर बढ़ेगी। निस्संदेह, उसमें ए[illegible] बीज है।
